वर्ष ४३ अंक ७ जुलाई २००५ मूल्य रु. ६.००

विवेक ज्योति

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जुलाई २००५

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४३
अंक ७

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

(सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन, रायपुर' छत्तीसगढ़ - के नाम से ही बनवायें)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

रामकृष्ण संघ के नये महाध्यक्ष
श्रीमत् स्वामी गहनानन्दजी महाराज

विगत २५ मई, २००५ को आयोजित रामकृष्ण मठ, बेलूड़ के ट्रस्टी मण्डल तथा मिशन की कार्यकारी समिति ने एक बैठक में सर्वसम्मति से श्रीमत् स्वामी गहनानन्दजी महाराज को संघ का नया महाध्यक्ष चुना है। वे संघ के १४वें महाध्यक्ष हैं।

१४ अप्रैल, १९९२ से ही महाराज मठ तथा मिशन के उपाध्यक्षों में एक थे और पिछले २५ अप्रैल, २००५ को पूज्यपाद स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज की महासमाधि के बाद उनके उत्तराधिकारी हुए।

महाराज का जन्म १९१६ ई. के अक्तूबर में सिलहट जिले (अब बंगला देश में) के पहाड़पुर गाँव में हुआ था। अपने छात्र-जीवन में ही उन्होंने श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द की जीवनी तथा उपदेशों का अध्ययन किया और उनके प्रति तीव्र आकर्षण का अनुभव किया। वे रामकृष्ण संघ के कुछ संन्यासियों के समर्पित जीवन से भी काफी प्रभावित हुए थे, विशेषकर ब्रह्मलीन स्वामी प्रभानन्द जी (केतकी महाराज) से, जो उनके पूर्वाश्रम के रिश्ते में भाई भी लगते थे। एक बार वे श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग शिष्य स्वामी अभेदानन्द जी से भी मिल चुके हैं।

जनवरी १९३९ में २२ साल की आयु में महाराज ने रामकृष्ण संघ के भुवनेश्वर केन्द्र में प्रवेश लिया और दो माह बाद संघ के तत्कालीन अध्यक्ष स्वामी विरजानन्द जी महाराज से मंत्रदीक्षा प्राप्त की। १९४४ ई. में स्वामी विरजानन्द जी महाराज ने उन्हें ब्रह्मचर्य की दीक्षा प्रदान की और अमृत-चैतन्य नाम दिया; तदुपरान्त १९४८ ई. में उन्हें संन्यास-दीक्षा और गहनानन्द नाम प्रदान किया।

भुवनेश्वर में उन्होंने स्वामी निर्वाणानन्द जी महाराज (जो बाद में संघ के उपाध्यक्ष हुए थे) के प्रेरक मार्गदर्शन में कार्य किया। स्वामी शंकरानन्द जी (बाद में संघ के ७वें अध्यक्ष) और स्वामी अचलानन्द जी (स्वामी विवेकानन्द जी के एक शिष्य तथा संघ के उपाध्यक्ष) के भुवनेश्वर तथा पुरी आने पर महाराज को उनकी सेवा करने का सौभाग्य भी मिला था। १९४२ से १९५२ तक उन्होंने मायावती के अद्वैत आश्रम की कोलकाता शाखा में सेवा दी। इन १० वर्षों के दौरान दो बार वे निर्जन में अध्ययन तथा साधना हेतु हिमालय में स्थित मायावती आश्रम गये।

१९५३ से १९५८ तक वे शिलांग केन्द्र में रहे, जहाँ उन्होंने (स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज के एक शिष्य) स्वामी सौम्यानन्द जी के मार्गदर्शन में कार्य किया। इस काल के दौरान उन्होंने असम में दो बार बाढ़-राहत-कार्य का भी परिचालन किया। स्वामी गहनानन्द जी की रोगी तथा पीड़ित मानवता की सेवा में विशेष रुचि थी और १९५८ ई. में उनकी मिशन के अस्पताल रामकृष्ण मिशन सेवा प्रतिष्ठान में नियुक्ति की गयी। २७ वर्षों के सुदीर्घ काल तक वे इसकी समस्त गतिविधियों के साथ गहराई से जुड़े रहे – प्रथम ५ वर्ष तक वे उप-सचिव के रूप में उसके संस्थापक सचिव स्वामी दयानन्द जी के प्रेरणादायी निर्देशन में और तदुपरान्त १९८५ तक के २२ वर्षो तक इसके प्रमुख के रूप में।

सेवा-प्रतिष्ठान मूलत: एक आदर्श प्रसूति-गृह तथा शिशु-मंगल-केन्द्र के रूप में शुरू किया गया था और कुछ वर्षो तक उसी रूप में सुपरिचित था। परवर्ती काल में इसने जो बृहत् तथा बहुमुखी रूप धारण किया, वह मुख्यत: स्वामी गहनानन्दजी महाराज के कार्यकाल के दौरान ही हुआ। उन्होंने समाज के निर्धन तथा अल्प आय वर्ग के अधिकाधिक लोगों की चिकित्सकीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इसकी सेवाओ के विकास तथा विस्तार हेतु अथक परिश्रम किया। वहाँ निवास के दौरान, उन्होंने चल-चिकित्सा-इकाइयों के माध्यम से दूर के ३३ गाँवों में स्वास्थ्य-रक्षण का कार्य आरम्भ किया। इसके साथ ही उन्होंने निकट के गाँवों में नेत्रों के मुफ्त ऑपरेशन के लिए कैम्प, प्रतिवर्ष गंगासागर मेला के तीर्थ-यात्रियों के लिए चिकित्सा-सेवा और बंगलादेश के मुक्ति-युद्ध के दौरान शरणार्थियो के लिए राहत-कार्य की व्यवस्था की।

(शेष पृष्ठ ३४४ पर)

वैराग्य-शतकम्

आधिव्याधिशतैर्जनस्य विविधैरारोग्यमुन्मूल्यते
लक्ष्मीर्यत्र पतन्ति तत्र विवृतद्वारा इव व्यापदः।
जातं जातमवश्यमाशु विवशं मृत्युः करोत्यात्मसा-
त्तत्किं तेन निरंकुशेन विधिना यन्निर्मितं सुस्थिरम्।।३३।।

अन्वय – विविधैः आधि-व्याधि-शतैः जनस्य आरोग्यम् उन्मूल्यते, यत्र लक्ष्मीः तत्र व्यापदः विवृतद्वारा इव पतन्ति । जातं जातं विवशं मृत्युः अवश्यम् आशु आत्मसात् करोति, तत तेन निरंकुशेन विधिना किं निर्मितं यत् सुस्थिरम् ।।

भावार्थ – विविध प्रकार के सैकड़ों शारीरिक तथा मानसिक रोग मनुष्य का स्वास्थ्य चौपट कर डालते हैं; जहाँ भी सम्पदा विद्यमान है, आपदाएँ वहाँ मानो खुला द्वार पाकर प्रविष्ट हो जाती हैं; विवश होकर बारम्बार जन्म लेनेवाले मनुष्य को मृत्यु शीघ्र ही निगल जाती है; अत: निरंकुश विधाता के द्वारा भला ऐसी कौन-सी वस्तु निर्मित हुई है, जो चिरस्थायी हो? (अर्थात् कुछ भी स्थिर नहीं है ।)

भोगास्तुङ्गतरङ्गभङ्गतरलाः प्राणाः क्षणध्वंसिनः
स्तोकान्येव दिनानि यौवनसुखस्फुर्तिः प्रियासु स्थिता।
तत्संसारमसारमेव निखिलं बुद्ध्वा बुधा बोधका
लोकानुग्रहपेशलेन मनसा यत्नः समाधीयताम्।।३४।।

अन्वय – भोगाः तुङ्ग-तरङ्ग-भङ्ग-तरलाः प्राणाः क्षण-ध्वंसिनः, प्रियासु स्थिता यौवन-सुख-स्फुर्तिः स्तोकानि दिनानि एव । तत् बोधका बुधा लोक-अनुग्रह-पेशलेन मनसा यत्नः समाधीयताम् ।।

भावार्थ – इन्द्रियों के भोग्य विषय उच्च तरंगों के बिखरने के समान चंचल हैं, प्राण भी क्षण भर में नष्ट होने वाले हैं, प्रेमिकाओं में विद्यमान यौवन के सुख की अभिव्यक्ति भी चन्द दिनों के लिए ही है, अत: हे उपदेशक विद्वानो ! इस अखिल विश्व को ही निस्सार समझकर सब पर कृपायुक्त चित्त से प्रयत्न में लग जाओ ।

– भर्तृहरि

शिव-वन्दना

– १ –

(भैरव या वृन्दावनी सारंग-चौताल)

हर हर हर महादेव, पशुपति शिव योगीश्वर ।
त्रिशूल-हाथ, चन्द्र-माथ, गौरिनाथ अभयंकर ।।

ज्योतिर्घन पंचानन, शोभित तन भवभय-हन
साधक-धन जन-पावन, ध्यावत ऋषि मुनि सुर नर ।।

गृह-श्मशान निरत ध्यान, कबहुँ करत नृत्य-गान,
चिरसंगी जातुधान, भूत-प्रेत गण-निशिचर ।।

गंग बहत जटाजूट, कंठ बसत कालकूट,
जाए मोह-बन्ध टूट, नित 'विदेह' भज भव-हर ।।

– २ –

(यमन-कहरवा)

शिव शिव शिव शिव
– जपता रह मन,
महादेव का नित सुमिरन कर,
मधुमय हो जायेगा जीवन ।।

उमानाथ-पद में रख अन्तर,
कर जग के सब कर्म निरन्तर,
दुख-अभाव सब मिट जाएँगे,
सुख-सन्तोष मिलेगा क्षण-क्षण ।।

ब्रह्मरूप वे सृष्टि व्यापते,
आत्मरूप हृदि में विराजते,
शक्तिरूप हो लीलारत हैं,
ओतप्रोत है उनसे कण-कण ।।

गंगाधर अति पावनकारी,
ताप मिटाते भव की सारी,
शरण ग्रहणकर उनकी प्रतिक्षण,
अब वे ही 'विदेह'-जीवन-धन ।।

– *विदेह*

धर्म-शिक्षा की आवश्यकता

स्वामी विवेकानन्द

(शिक्षा विषय पर अनेक मूल्यवान विचार स्वामीजी के सम्पूर्ण साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उन्हीं का बँगला भाषा में एक संकलन 'शिक्षा-प्रसंग' नाम से प्रकाशित हुआ है, जो कई दृष्टियों से बड़ा उपयोगी प्रतीत होता है। शिक्षको तथा छात्रों – दोनो को ही उससे उक्त विषय में काफी नयी जानकारी मिल सकती है, यहाँ पर हम 'शिक्षा का आदर्श' शीर्षक के साथ क्रमश: उसी का प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

आध्यात्मिकता की जन्मभूमि

यह वही प्राचीन भूमि है, जहाँ दूसरे देशों को जाने से पहले तत्त्वज्ञान ने आकर अपना निवास बनाया था। यह वही भारत है, जहाँ के आध्यात्मिक प्रवाह का स्थूल प्रतिरूप उसके बहनेवाले समुद्राकार नद हैं, जहाँ चिरन्तन हिमालय अपने उन्नत हिमशिखरों के साथ मानो स्वर्गराज्य के रहस्यों की ओर निहार रहा है। यह वही भारत है, जिसकी भूमि पर संसार के सर्वश्रेष्ठ ऋषियों की चरण-रज पड़ चुकी है। यहीं सर्वप्रथम मानव-प्रकृति तथा अन्र्तजगत् के रहस्योदघाटन की जिज्ञासाओं के अंकुर उगे थे। आत्मा के अमरत्व, ईश्वर और जगत्प्रपंच तथा मनुष्य के भीतर सर्वव्यापी परमात्मा विषयक मतवादों का सर्वप्रथम यहीं उद्भव हुआ था। और यहीं धर्म तथा दर्शन के आदर्शों ने अपना चरम उत्कर्ष प्राप्त किया था। यह वही भूमि है, जहाँ से बाढ़ की तरह उमड़ती हुई धर्म तथा दर्शन की धारा ने समग्र विश्व को बार-बार प्लावित किया है और यही वह भूमि है, जहाँ से पुन: ऐसी ही तरंगें उठकर निस्तेज जातियों में शक्ति और जीवन का संचार कर देंगी। यह वही भारत है, जो शताब्दियों के आघात, विदेशियों के सैकड़ों आक्रमण और आचार-व्यवहारों के विपर्यय सहकर भी अक्षय बना हुआ है। यह वही भारत है, जो अपने अविनाशी बल तथा जीवन के साथ अब तक पर्वत से भी दृढ़तर भाव से खड़ा है। आत्मा जैसे अनादि, अनन्त और अमृत-स्वरूप है, वैसे ही हमारी भारत भूमि का जीवन है और हम इसी देश की सन्तान हैं।[१४९]

राष्ट्र की आधारभूमि – धर्म

प्राच्य और पाश्चात्य राष्ट्रों में घूमकर मुझे दुनिया की कुछ जानकारी प्राप्त हुई और मैंने सर्वत्र सभी राष्ट्रों में कोई-न-कोई ऐसा आदर्श देखा है, जिसे उस राष्ट्र का मेरुदण्ड कहा जा सकता है। कहीं राजनीति, कहीं सामाजिक उन्नति, तो कहीं मानसिक उन्नति और ऐसे ही कुछ-न-कुछ प्रत्येक के मेरुदण्ड का काम करता है। पर हमारी मातृभूमि भारतवर्ष का मेरुदण्ड धर्म – केवल धर्म ही है। धर्म ही के आधार पर, उसी की नींव पर, हमारी जाति के जीवन का प्रासाद खड़ा है।[१५०] अब वह धर्मभाव हमारे रक्त में ही मिल गया है; हमारे रोम-रोम में वही आदर्श रम रहा है, वही हमारे शरीर का अंश और हमारी जीवनी-शक्ति बन गया है। ... क्या तुम चाहते हो कि गंगा की धारा फिर बर्फ से ढके हुए हिमालय को लौट जाय और फिर वहाँ से नवीन धारा बनकर प्रवाहित हो? यदि वह सम्भव हो, तो भी ऐसा नहीं हो सकता कि यह देश अपने धर्ममय जीवन के विशिष्ट मार्ग को छोड़ सके और अपने लिए राजनीति या अन्य किसी नवीन मार्ग को अपना ले। जिस मार्ग में बाधाएँ कम हों, तुम्हें उसी मार्ग से काम करना होगा। और भारत के लिए धर्म का मार्ग ही स्वल्पतम बाधावाला मार्ग है। धर्म के पथ का अनुसरण करना ही हमारे जीवन, हमारी उन्नति और हमारे कल्याण का मार्ग है।[१५१] पहले आत्मज्ञान। मेरा तात्पर्य इस शब्द के उच्चारण के साथ याद आनेवाले जटा-जूट, दण्ड-कमण्डलु और गिरि-कन्दराओं से नहीं है। मेरा तात्पर्य यह है कि जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य संसार के बन्धन तक से छुटकारा पा जाता है, उससे क्या तुच्छ भौतिक उन्नति नहीं हो सकेगी? अवश्य हो सकेगी। मुक्ति, वैराग्य, त्याग – ये सब सर्वोच्च आदर्श हैं, पर गीता के अनुसार – **स्वल्पमपि अस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्** अर्थात् इस धर्म का थोड़ा-सा अंश भी महाभय (जन्म-मरण) से रक्षा करता है।[१५२] आध्यात्मिकता ही हमारे जीवन के सभी कार्यों का सच्चा आधार है। आध्यात्मिक शक्तियुक्त व्यक्ति यदि चाहे, तो हर विषय में सक्षम हो सकता है। और जब तक मनुष्य में आध्यात्मिक बल नहीं आता, तब तक उसकी भौतिक आवश्यकताएँ भी भलीभाँति तृप्त नहीं हो सकतीं। आध्यात्मिक सहायता के बाद है – बौद्धिक सहायता।
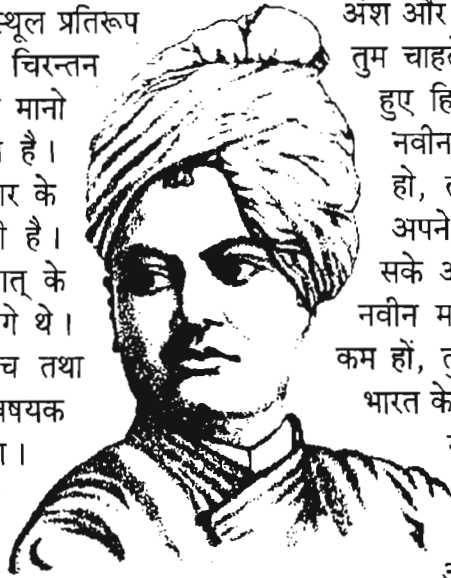
धर्म – अन्तर्निहित देवत्व की अभिव्यक्ति

मैं धर्म को शिक्षा का अन्तरतम अंग समझता हूँ। ध्यान रहे कि धर्म के विषय में मैं अपने या किसी दूसरे के मत की बात नहीं कहता।[१५४] **धर्म वह वस्तु है, जिससे पशु मनुष्य तक और मनुष्य परमात्मा तक उठ सकता है।**[१५५] असीम

शक्ति ही धर्म और ईश्वर है।[१५६] उपयुक्त अवसर तथा स्थान -काल मिलते ही उस शक्ति का विकास हो जाता है, परन्तु चाहे विकास हो, या न हो, यह शक्ति ब्रह्मा से लेकर तिनके तक, प्रत्येक जीव में विद्यमान है।[१५७] मन्दिर और गिरजा, पोथी और पूजा – ये धर्म की केवल शिशुशालाएँ मात्र हैं, जिनके द्वारा आध्यात्मिक शिशु इतना बलवान हो जाता है कि वह उच्चतर सीढ़ियों पर पैर रखने में समर्थ हो जाय। ... धर्म न तो मतों में है, न पन्थों में और न तार्किक विवाद में। धर्म का अर्थ है अपने ब्रह्मत्व को जान लेना, उसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना और तद्रूप हो जाना।[१५८] केवल प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा ही यथार्थ शिक्षा मिलती है। हम लोग भले ही जीवन भर तर्क-विचार करते रहें, पर स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव किये बिना हम सत्य का कण मात्र भी न समझ सकेंगे। कुछ पुस्तकें पढ़ाकर तुम किसी को शल्य-चिकित्सक बनाने की आशा नहीं कर सकते। केवल एक नक्शा दिखाकर तुम देश देखने का मेरा कुतूहल नहीं मिटा सकते। स्वयं वहाँ जाकर उस देश को प्रत्यक्ष देखने पर ही मेरा कुतूहल मिटेगा। नक्शा केवल इतना कर सकता है कि वह देश के बारे में और भी अच्छी तरह जानने की इच्छा उत्पन्न कर देगा ! बस, इसके सिवा उसका और कोई मूल्य नहीं।[१५९]

अनुभूति ही सार वस्तु है। हजार वर्ष गंगा-स्नान कर और हजार वर्ष निरामिष खाकर भी यदि आत्मविकास नहीं होता, तो सब जानना व्यर्थ है।[१६०] **सभी उपसनाओं का सार यही है कि मनुष्य पवित्र रहे और सदैव दूसरों का भला करे।** वह व्यक्ति जो शिव को निर्धन, दुर्बल तथा रोगी में भी देखता है, वही सचमुच शिव की उपासना करता है और यदि वह उन्हें केवल मूर्ति में ही देखता है, तो उसकी उपासना अभी नितान्त प्रारम्भिक है। यदि कोई बिना जाति-पाँति या ऊँच-नीच का भेदभाव किये, किसी एक भी निर्धन व्यक्ति की सेवा यह सोचकर करता है कि उसमें साक्षात् शिव विराजमान हैं, तो शिव उससे उस दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक प्रसन्न होंगे, जो उन्हें केवल मन्दिर में देखता है।[१६१]

सत्य बलवान बनाता है

सत्य की कसौटी यह है – जो कुछ भी तुमको दैहिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल बनाये, उसे जहर की भाँति त्याग दो, उसमें जीवन-शक्ति नहीं है, वह कभी सत्य नहीं हो सकता। सत्य तो बलप्रद है, वह पवित्रता है, ज्ञान-स्वरूप है। सत्य तो वह है, जो शक्ति दे, अन्तर के अँधेरे को दूर कर दे, हृदय में स्फूर्ति भर दे।[१६२] जो कोई उपदेश दुर्बलता की शिक्षा देता है, उस पर मुझे विशेष आपत्ति है। नर-नारी, बालक-बालिका जब दैहिक, मानसिक या आध्यात्मिक शिक्षा पाते हैं, उस समय मैं उनसे एक प्रश्न करता हूँ – "क्या तुम्हें इससे बल मिलता है?" क्योंकि मैं जानता हूँ कि एकमात्र सत्य ही सबल करता है। मैं जानता हूँ कि एकमात्र सत्य ही प्राणप्रद है। सत्य की ओर गये बिना हम अन्य किसी भी उपाय से शक्तिमान नहीं हो सकते, और शक्तिमान हुए बिना हम सत्य के समीप नहीं पहुँच सकते। इसलिए जो मत या शिक्षा-प्रणाली मन तथा मस्तिष्क को दुर्बल करे और मनुष्य को अन्धविश्वास से भरे, जिससे वह अन्धकार में टटोलता रहे, ख्याली पुलाव पकाता रहे और हर प्रकार की अजीबोगरीब तथा अन्धविश्वासपूर्ण बातों की खाक छानता रहे, वह मत या प्रणाली मुझे पसन्द नहीं, क्योंकि व्यक्ति पर उसका परिणाम बड़ा ही घातक होता है। उनसे कभी कोई उपकार नहीं होता। वे निरर्थक है।[१६३]

जो लोग इस विषय का ज्ञान रखते हैं, वे मेरे साथ इस विषय में सहमत होंगे कि ये मनुष्य को दुर्बल बना डालती हैं, इतना दुर्बल कि कालान्तर में उसका मन सत्य को ग्रहण करने और तदनुसार जीवन-गठन में सर्वथा असमर्थ हो जाता है। अत: बल ही एक जरूरी चीज है। बल ही भव-रोग की दवा है। धनिकों द्वारा रौंदे जानेवाले निर्धनों के लिए बल ही एकमात्र दवा है। विद्वानों द्वारा दबाये जानेवाले अशिक्षितों के लिए बल ही एकमात्र दवा, है और अन्य पापियों द्वारा सताये जानेवाले पापियों के लिए भी यही एकमात्र दवा है।[१६४]

शक्ति की खान हैं उपनिषद्

बन्धुओ, तुम्हारी और मेरी नसों में एक ही रक्त बह रहा है, तुम्हारा जीवन-मरण मेरा भी जीवन-मरण है। हमको शक्ति, केवल शक्ति ही चाहिये और उपनिषद् शक्ति की खान हैं। उपनिषदों में इतनी शक्ति विद्यमान है कि वे सारे संसार को तेजस्वी बना सकते हैं। उनके द्वारा सारा जगत् पुनर्जीवित, सशक्त तथा सबल हो सकता है। सभी जातियों को, सकल मतों के, विभिन्न सम्प्रदाय के दुर्बल, दुखी, पददलित लोगों को स्वयं अपने पैरों पर खड़े होकर मुक्त होने का वे उच्च स्वर में आह्वान कर रहे हैं। मुक्ति या स्वाधीनता – दैहिक, मानसिक, आध्यात्मिक स्वाधीनता – यही उपनिषदों का मूलमंत्र है।[१६५]

उपनिषदों का हर पृष्ठ मुझे शक्ति का सन्देश देता है। वे कहते हैं – हे मानव, तेजस्वी बनो, सबल बनो, उठकर खड़े हो जाओ, वीरता का सहारा लो। विश्व-साहित्य में केवल उपनिषदों में ही 'अभी:' (अभय) शब्द बार-बार आया है – संसार के अन्य किसी शास्त्र में ईश्वर या मानव के लिये 'अभी:' या 'अभय' – विशेषण का प्रयोग नहीं हुआ है। 'अभी:' – निर्भय बनो ! और मेरे मन में अति प्राचीन काल के उस पाश्चात्य सम्राट् सिकन्दर का चित्र उदित होता है और मैं देख रहा हूँ – वह महाप्रतापी सम्राट् सिन्धु नदी के तट पर खड़ा होकर अरण्यवासी, शिलाखण्ड पर बैठे हमारे एक वृद्ध नग्न संन्यासी के साथ बातें कर रहा है। सम्राट् संन्यासी के अपूर्व ज्ञान से विस्मित होकर उनको धन और मान का लोभ दिखाकर

यूनान जाने का निमंत्रण देता है। और वह व्यक्ति उसके स्वर्ण पर मुस्कुराता है, उसके प्रलोभन पर मुस्कुराता है और जाने से मना कर देता है। और तब सम्राट अपने अधिकार-बल से कहता है, "नहीं चलने पर मैं आपको मार डालूँगा।" यह सुनकर संन्यासी खिलखिला कर हँसे, बोले, "तुमने इस समय जैसा झूठ कहा, वैसा जीवन में कभी नही कहा। मुझको कौन मार सकता है? जड़ जगत् के सम्राट्, तुम मुझे मारोगे? कदापि नहीं! मैं चैतन्यस्वरूप, अज और अक्षय हूँ! मेरा कभी जन्म नहीं हुआ और न कभी मृत्यु हो सकती है! मै अनन्त, सर्वव्यापी और सर्वज्ञ हूँ। तुम मुझे मारोगे? निरे बच्चे हो तुम!" यही सच्चा तेज है, यही सच्ची वीरता है! उपनिषदों में वर्णित इसी तेजस्विता को अपने जीवन में चरितार्थ करना हमारे लिए विशेष रूप से आवश्यक हो गया है।[१६६]

संसार में इन उपनिषदों के जैसा अपूर्व काव्य अन्य कोई नहीं हैं।[१६७] अपने उपनिषदों का – उस बलप्रद आलोकप्रद, दिव्य शास्त्र का आश्रय ग्रहण करो। सत्य जितना ही महान् होता है, उतना ही सहज बोधगम्य होता है – स्वयं अपने अस्तित्व के समान सहज। जैसे अपने अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए और किसी की जरूरत नहीं होती, बस वैसे ही। उपनिषद् के सत्य तुम्हारे सामने हैं। उनका अवलम्बन करो, उन्हें समझकर कार्य में परिणत करो।[१६८] हमें देखना है कि यह वेदान्त किस प्रकार हमारे दैनन्दिन जीवन में, नागरिक जीवन में, ग्राम्य जीवन में, राष्ट्रीय जीवन में और प्रत्येक राष्ट्र के घरेलू जीवन में प्रयुक्त किया जा सकता है। क्योंकि धर्म यदि मनुष्य को जहाँ भी और जिस स्थिति में भी वह है, सहायता नहीं दे सकता, तो उसकी भला क्या उपयोगिता? तब तो वह केवल कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के लिए कोरा सिद्धान्त होकर रह जायेगा। धर्म यदि मानवता का कल्याण चाहता है, तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह मनुष्य की प्रत्येक दशा में उसकी सहायता कर पाने में सक्षम हो – व्यक्ति चाहे गुलामी में हो या आजादी में, घोर पतन के गर्त में हो या पवित्रता के शिखर पर, धर्म को सर्वत्र उसकी सहायता कर पाने में समर्थ होना चाहिये।[१६९]

श्रद्धावान बनो, आत्मा को जान लो

प्राचीन धर्मों के अनुसार वह व्यक्ति नास्तिक है, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता। और नया धर्म कहता है कि जिसमें आत्मविश्वास नहीं, वही नास्तिक है। पर यह विश्वास केवल इस क्षुद्र 'मैं' को लेकर नहीं है, क्योंकि वेदान्त एकत्ववाद की भी शिक्षा देता है। इस विश्वास का अर्थ है – सबके प्रति विश्वास, क्योंकि तुम सभी एक हो। अपने प्रति प्रेम का अर्थ सब प्राणियों से प्रेम, सभी पशु-पक्षियों से प्रेम, सब वस्तुओं से प्रेम – क्योंकि तुम सब एक हो। यही महान् विश्वास जगत् को अधिक अच्छा बना सकेगा।[१७०] आत्मविश्वास का आदर्श ही हमारी सबसे अधिक सहायता कर सकता है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि इस आत्मविश्वास का और भी विस्तृत रूप से प्रचार होता और यह कार्यरूप में परिणत हो जाता, तो जगत् में जितना दुख तथा बुराई है, उसका अधिकांश चला जाता। मानव-जाति के समग्र इतिहास में सभी महान् स्त्री-पुरूषों में यदि कोई महान् प्रेरणा सर्वाधिक सशक्त रही है, तो वह यही आत्मविश्वास ही है। वे इस ज्ञान के साथ पैदा हुए थे कि वे महान् बनेंगे और वे महान् बने भी।[१७१]

हमें इस समय केवल आत्मा की ही आवश्यकता है – उसके अपूर्व तत्त्व, उसकी अनन्त शक्ति, अनन्त बल, अनन्त शुद्धता और अनन्त पूर्णता के तत्त्व को जानने की। यदि मेरी कोई सन्तान होती, तो मैं उसे जन्म के समय से ही सुनाता – **त्वमसि निरंजन**। तुमने अवश्य ही पुराण में रानी मदालसा की वह सुन्दर कहानी पढ़ी होगी। सन्तान होते ही वे उसे अपने हाथ से पालने पर रखकर झुलाते हुए उसके लिए गातीं – "**तू है मेरे लाल निरंजन, अति पावन निष्पाप; तू है सर्व शक्ति का आकर, तेरा अमित प्रताप**।" इस कथा में सत्य छिपा हुआ है। अपने को महान् समझो और तुम सचमुच महान् हो जाओगे।[१७२] सारे दोषपूर्ण कार्यों की मूल प्रेरक दुर्बलता ही है। दुर्बलता के कारण ही व्यक्ति सभी स्वार्थों में प्रवृत्त होता है। दुर्बलता के कारण ही व्यक्ति दूसरों को कष्ट पहुँचाता है; दुर्बलता के कारण ही व्यक्ति अपना सच्चा स्वरूप अभिव्यक्त नहीं कर सकता। सब लोग जाने कि वे क्या हैं? दिन-रात वे अपने स्वरूप – **सोऽहम्** (मैं वही हूँ) का जप करें। माता के स्तनपान के साथ – **सोऽहम्** – की ओजमयी वाणी का पान करें। **श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः** – आदि का पहले श्रवण करें। तत्पश्चात् वे उसका चिन्तन करें और उसी चिन्तन, उसी मनन से ऐसे कार्य होंगे, जिन्हें संसार ने अब तक देखा ही नहीं है।[१७३]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

१४९. विवेकानन्द साहित्य, (संस्करण १९८९) खण्ड ५, पृ. १७९ **१५०**. वही, खण्ड ५, पृ. ७४; **१५१**. वही, खण्ड ५, पृ. ७५-७६; **१५२**. वही, खण्ड ६, पृ. ३१२; **१५३**. वही, खण्ड ३, पृ. २८; **१५४**. वही, खण्ड ४, पृ. २६८; **१५५**. वही, खण्ड १०, पृ. २१३; **१५६**. वही, खण्ड ६, पृ. २७९; **१५७**. वही, खण्ड ६, पृ. ३१२; **१५८**. वही, खण्ड ३, पृ. २४८; **१५९**. वही, खण्ड १, पृ. ९७-९८; **१६०**. वही, खण्ड ६, पृ. १७८; **१६१**. वही, खण्ड ५, पृ. ३८-३९; **१६२**. वही, खण्ड ५, पृ. १२०; **१६३**. वही, खण्ड २, पृ. १८८-८९; **१६४**. वही, खण्ड २, पृ. १८९; **१६५**. वही, खण्ड ५, पृ. १३३-३४; **१६६**. वही, खण्ड ५, पृ. १३२-३३; **१६७**. वही, खण्ड ५, पृ. २२१; **१६८**. वही, खण्ड ५, पृ. १२०; **१६९**. वही, खण्ड ८, पृ. १२; **१७०**. वही, खण्ड ८, पृ. १२-१३; **१७१**. वही, खण्ड ८, पृ. १२; **१७२**. वही, खण्ड ५, पृ. १३७-३८; **१७३**. वही, खण्ड ५, पृ. ३१६

दुःख की समस्या

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

यह प्रत्यक्ष है कि हमारे सब दुःखों का प्रारम्भ मन में होता है। मन हमारा मित्र है और शत्रु भी। वश में किया हुआ मन हमारा मित्र है, और जब मन हमें वश में कर लेता है, तब हमारा शत्रु है। यदि हम सावधानी से अपना विश्लेषण करें, तो देखेंगे कि मन ही हमारे सब दुःखों का उद्‌गम-स्थान है। भ्रमवश हम दूसरों पर दोष लगाते हैं। दूसरों पर दोष मढ़ना सहज है, पर अपने दुःख के लिए जो स्वय को दोषी मानता है, वह दुःख से ऊपर उठने की दिशा में मानो एक कदम आगे बढ़ जाता है।

यदि हम अपने मन पर ध्यान दें और देखें कि यह क्या है, तो हम देखते हैं कि यह सदा परिवर्तनशील है। एक क्षण में वह सुखी होता है और एक क्षण में दुःखी। कभी अचानक ही वह चिड़चिड़ा हो जाता है। पर हममें से अनेक मन के इस अकस्मात् परिवर्तन का कारण पकड़ नहीं पाते। क्यों? इसलिए कि हममें सयम नहीं है; इसलिए कि मन अत्यन्त चचल है। मन की यह चचलता ही उसकी विक्षिप्तता का कारण है। मन की इस चंचलता को मन पर निगाह डालने के अभ्यास द्वारा कम किया जा सकता है। हमें अपने विचारों को देखने का अभ्यास करना होगा।

यदि हम नियमित रूप से कुछ समय तक ऐसा अभ्यास करें, तो हम अपने मन का अध्ययन करने में तथा इसके परिवर्तन को देख सकने में समर्थ हो सकेंगे।

प्रश्न उठता है कि मन के इस परिवर्तन को कौन देखता है? कोई वस्तु, जो हमारे भीतर ही है। हम यह अनुभव कर सकते हैं कि हम स्वयं ही अपने मन को देख रहे हैं। हम कहते हैं - 'मेरा मन मुझे दुःख देता है।' यह कथन ही स्पष्ट करता है कि मैं मन से पृथक हूँ। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारे भीतर मन से अतीत कोई वस्तु है और वह वस्तु है चेतना। यदि हम इस चेतना को पकड़कर मन से ऊपर उठ जायँ, तो हम मन को नियत्रण में लाने में समर्थ हो सकेंगे और इस प्रकार दुःख की समस्या का समाधान कर लेंगे।

आर्किमिडीज ने कहा था कि यदि हम पृथ्वी से परे, पर्याप्त दूरी पर एक स्थान ढूँढ़ सकते, तो हम पृथ्वी को ढेंकली से उसी प्रकार उठा या झुका सकते थे जैसे कि एक सेव को। इसी तरह यदि हम मन से परे तथा मन से दूर एक स्थिति ढूँढ़ सकें, तो अपने मन को पूर्णतया सयत कर सकते हैं। पर मुश्किल यह है कि हम अपने मन और शरीर से तदाकार हो जाते हैं, इसलिए मन को अपने नियंत्रण में नहीं ला पाते। फलस्वरूप हम दुःख का अनुभव करते हैं।

अच्छा, एक प्रश्न पूछें। दुःखी कौन होता है? हमारा मन, या शरीर या दोनों? जब हम शारीरिक व्यथा का अनुभव करते हैं, तब व्यथा शरीर की होती है। दूसरी ओर, जब हम अपमान या हानि सहते हैं, तब हम व्यथा का अनुभव शरीर में नहीं, मन में करते हैं। जब हम अन्य किसी व्यक्ति के व्यापार में घाटा पड़ जाने की बात पढ़ते हैं, तब हमें उतना दुःख नहीं होता, किन्तु यदि वह व्यापार हमारा हो, तो हमें कठोर आघात पहुँचता है। यह सब इस पर निर्भर करता है कि हम उस दुर्घटना से कितने सम्बन्धित हैं। हम यह स्पष्ट देख सकते हैं कि जब हम मन को इन वस्तुओं के साथ एकाकार कर लेते हैं, तभी दुखी होते हैं। यदि हम अपने मन को दुःख के विषय से एकाकार न करें, तो ससार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जो हमारे दुःख का कारण बने। अतएव हमें चाहिए कि हम शरीर और मन से एकाकार न हों।

पर प्रश्न यह है कि यह सम्भव कैसे हो? हमने पूर्व में मन से परे जिस चेतना की बात कही, उसमें यदि हम अपनी आस्था गहरी कर सकें, तो धीरे-धीरे यह सम्भव है कि हम अपने मन पर नियत्रण पा लें। पहले युक्तियों, तर्कों और प्रमाणों के बल पर हमें इस चेतना की बौद्धिक धारणा करनी पड़ती है, तत्पश्चात् इस चेतना को अनुभव में लाने का प्रयास करना पड़ता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् कहता है —

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

— "जब मनुष्य आकाश को चमड़े के समान लपेट लेंगे, तब देव यानी ईश्वर यानी उस विराट् चेतना को बिना जाने दुःख का अन्त हो सकेगा।" तात्पर्य यह कि मनुष्य आकाश को चमड़े के समान कभी लपेट नहीं सकता। अतएव बिना उस विराट् चेतना की अनुभूति के दुःख का भी अन्त नहीं हो सकता। दुःख की समस्या का स्थायी समाधान केवल इसी प्रकार सम्भव है।

❑❑❑

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (२/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)
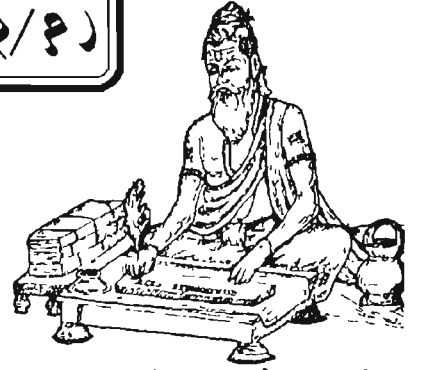
भगवान श्रीराम वनपथ में जाते हुए महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में जाते हैं। मुनि और प्रभु का दिव्य मिलन होता है। महर्षि ने कन्द-मूल-फल से प्रभु का स्वागत किया, उनकी प्रशंसा में बड़े दिव्य भाव व्यक्त किये। उसके पश्चात् भगवान ने महर्षि से विनम्रतापूर्वक प्रश्न किया – "कृपा करके आप कोई ऐसा स्थान बताइए, जहाँ मैं निवास करूँ।"

अब साधारणतया तो होता यह है कि आपके यहाँ कोई आ जाय और कहने लगे कि आप मुझे बताइए कि मैं नगर में कहाँ ठहरूँ? तो शिष्टाचार यही कहता है – "नहीं, आप अन्यत्र क्यों जाएँगे, यहीं ठहर जाइए।" और ऐसी आशा से व्यक्ति कहेगा। पर यदि कोई ऐसा न करे, तो लगेगा कि वह शायद इतना सहृदय नहीं है कि वह मुझे निमंत्रित करे।

पर भगवान राम का जब इन महात्माओं से सत्संग होता है, प्रश्नोत्तर होता है, तो उसमें बड़ी व्यापक दृष्टि होती है और उसी का परिचय इन पंक्तियों में मिलता है।

महर्षि वाल्मीकि ने भगवान के प्रश्नों का उत्तर तीन रूपों में दिया। पहले तो उन्होंने कहा कि आप तो सर्वत्र निवास कहते हैं। पर उसके पश्चात् एक महत्त्वपूर्ण शब्द, जिसका प्रयोग प्रभु श्रीरामभद्र ने किया था, उसी का प्रयोग करते हुए वे आगे चलकर प्रभु के लिए निवास का स्थान बताते हैं। प्रभु ने जब महर्षि से प्रश्न किया, तो वे सावधान भी थे। वे जानते थे कि उनके मुख से विनोद में भी यदि कोई ऐसी बात निकली, तो महर्षि उसको लेकर प्रश्न करेंगे।

इसलिए प्रभु ने यह नहीं पूछा कि मैं कहाँ रहूँ। उनके प्रश्न में एक वाक्य और जुड़ा हुआ था और वह बड़े महत्त्व का था। प्रभु जानते हैं कि सारे शास्त्र, सारे ग्रन्थ, सारे आचार्य बताते हैं और यह सत्य भी है कि मैं सर्वत्र निवास करता हूँ। तो – मैं कहाँ रहूँ – मेरा यह प्रश्न अपने आप में असंगत लगेगा। अत: प्रभु ने एक वाक्य जोड़ दिया। वे बोले – मैं अकेला नहीं हूँ। मेरे साथ दो और सहयात्री हैं – जनकनन्दिनी सीता और अनुज लक्ष्मण हैं। आप ऐसा स्थान बताइए, जहाँ मैं इन दोनों के साथ निवास करूँ –

अस जियँ जानि कहिअ सोइ ठाऊँ।
सिय सौमित्रि सहित जहँ जाऊँ।। २/१२६/५

और प्रश्न का सबसे बड़ा सूत्र यही था। अकेला निर्गुण-निराकार ब्रह्म सबके हृदय में विद्यमान है, पर सीताजी और लक्ष्मण के साथ होना एक अलग अर्थ रखता है। इसीलिए उन्होंने यह वाक्य जोड़ा। और महर्षि ने जब भगवान से पूछा कि यह बताइए कि आप कहाँ नहीं रहते, तो उन्हें रुककर उत्तर के लिए प्रतीक्षा करनी चाहिए थी। परन्तु उन्होंने अपना वक्तव्य जारी रखा –

सुनहु राम अब कहउँ निकेता।
जहाँ बसहु सिय लखन समेता।। २/१२८/३

प्रभु श्रीसीता और लक्ष्मणजी के साथ सर्वत्र निवास नहीं करते – इसको यदि आप गहन दृष्टि से देखें, तो इसमें बड़े सुन्दर संकेत निहित हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वेदान्त का कूटस्थ ब्रह्म निर्गुण-निराकार है, उसमें स्वयं कोई प्रेरणा नहीं है, कार्य का कोई संकल्प नहीं है, कोई आकांक्षा नहीं है। उसके लिए न तो पाप का महत्त्व है और न पुण्य का। जो सर्वव्यापक है, उसकी एक बाध्यता है। आप आए हैं, तो बैठने के लिए आप अपना स्थान चुन सकते। परन्तु जो व्यापक है, उसमें यह स्वतंत्रता नहीं है। कोई स्थान अच्छा हो, या गन्दा, या चाहे जैसा हो, व्यापक रूप में ही रहेगा। इसको अनेक प्रसंगों द्वारा मानो यह सूत्र देने की चेष्टा की गई कि उस निर्गुण-निराकार ब्रह्म के रहते हुए भी हमारे जीवन में कोई परिवर्तन दिखाई नहीं देता – हृदय में ऐसे अविकारी अक्षर ब्रह्म के विद्यमान रहते हुए भी संसार के सारे लोग दीनता और दुख का अनुभव कर रहे हैं –

अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी।
सकल जीव जग दीन दुखारी।। १/२२/७

इसका मूल तत्त्व – 'सिय लखन समेता' से ही समझने योग्य है। सीताजी और लक्ष्मणजी को अनेक रूपों में देखा गया है। गोस्वामीजी उनके लिए ऐसे अनेक शब्द तथा वाक्य चुनते हैं, जिनसे उन्हें सरलता से समझा जा सकता है। परन्तु जब उन्होंने हनुमानजी की वन्दना की तो एक वाक्य लिखा – जो दुष्ट-रूपी वन को जलाने के लिए अग्नि के समान हैं और ज्ञान के घनीभूत रूप हैं। जिनके हृदय रूपी कक्ष में धनुष-बाण के साथ श्रीराम निवास करते हैं –

प्रणवउँ पवन कुमार खल बन पावक ग्यानधन ।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप घर ।। १/१७

इस वाक्य से लगता है कि इसमें प्रशंसा क्या हुई? भगवान हनुमानजी के हृदय में निवास करते हैं। ठीक है, तो क्या वे रावण के हृदय में नहीं रहते? क्या राक्षसों के हृदय में नहीं रहते? संसार में कोई ऐसा व्यक्ति ही नहीं है, जिसमें वे न रहते हों। जब वे सबके हृदय में रहते हैं, तो हनुमानजी के हृदय में निवास की क्या विशेषता है? गोस्वामीजी बोले – उनके हृदय में वे धनुष-बाण धारण किये निवास करते हैं।

यही कुंजी है। इसका अभिप्राय क्या हैं? निर्गुण-निराकार ब्रह्म से कोई भयभीत नहीं हो सकता है। अस्त्ररहित व्यक्ति को देखकर किसी को भी भय की अनुभूति नहीं होती, पर यदि कोई अस्त्र धारण किये हुए हो, तो स्वाभाविक है कि व्यक्ति बहुत सोच-समझकर ही उसे चुनौती देने की चेष्टा करेगा। तो तात्पर्य यह है कि हम लोगों के अन्तःकरण में ब्रह्म या ईश्वर मानो निःशस्त्र है और हनुमानजी के हृदय में वह सशस्त्र है। सशस्त्र होने का तात्पर्य यह है कि उसके रहने पर स्वाभाविक रूप से ही हृदय में बुराई, दुर्गुण, दुर्विचार आदि प्रवेश करने का साहस नहीं कर सकते। यही संकेत है। विभीषण-शरणागति के प्रसंग में भी। विभीषणजी जब प्रभु के शरण में आए, तो प्रभु उनसे पूछते हैं – लंकेश विभीषण, बताओ, तुम सपरिवार कुशल से तो हो? –

कहु लंकेस सहित परिवारा ।
कुसल कुठाहर बास तुम्हारा ।। ५/४६/४

उस समय विभीषणजी ने बड़ी अनोखी बात कही। बोले – "प्रभो, यदि मैं कहूँ कि कुशलपूर्वक था, तो यहाँ आने की आवश्यकता ही नहीं थी। और यदि यहाँ पहुँचने के बाद भी मैं भूतकाल की स्मृति करूँ कि पहले मैं कुशल नहीं था, तो भी ठीक नहीं हैं। तो मैं तो यही कहूँगा कि 'अब' मेरे जीवन में निश्चित रूप से कुशलता है।" 'अब' शब्द लगा दिया। – कुशलता किस रूप में? – आपने मुझे अपना मान लिया, अपना जन बना लिया और मेरे ऊपर आपकी कृपादृष्टि पड़ी, तो मैं यह कह सकता हूँ कि मैं कुशलपूर्वक हूँ –

अब पद देखि कुसल रघुराया ।
जौं तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया ।। ५/४६/८

वे बोले – "मनुष्य के हृदय में अनेक दुर्गुण-दुर्विचार विद्यमान हैं, जो उसमें अन्धकार तथा बुराइयों की सृष्टि कर रहे हैं। परन्तु यह स्थिति तभी तक रहती है, जब तक आप हृदय में निवास नहीं करते।" फिर वही प्रश्न – क्या वे सबके हृदय में निवास नहीं करते? – नहीं, महाराज, वैसे नहीं। – तब कैसे? आपके कमर में तरकस हो और हाथ में धनुष-बाण हो, जब तक आप इस रूप में हृदय में निवास नहीं करते, तभी तक उसमें दुर्गुण विद्यमान रहते हैं –

तब लगि हृदयँ बसत खल नाना ।
लोभ मोह मच्छर मद माना ।।
जब लगि उर न बसत रघुनाथा ।
धरें चाप सायक कटि भाथा ।। ५/४७/१-२

इसमें सूत्रात्मक संकेत यही है कि यदि ईश्वर निष्क्रिय है, तो उसको सक्रिय बनाने की जरूरत है। यदि वह उदासीन है, तो उसके अन्तर में राग उत्पन्न करने की जरूरत है। यदि वह स्वयं हस्तक्षेप नहीं करता, तो उसके हृदय में प्रेरणा और संकल्प उत्पन्न करने की आवश्यकता है।

तो वेदान्त के निर्गुण-निराकार ब्रह्म और सगुण-साकार के सन्दर्भ में यह जो संगति है, उनको अनेक प्रसंगों के द्वारा बारम्बार प्रस्तुत किया गया है। यदि आप पूरी रामकथा पर दृष्टि डालें, तो इसमें यही सूत्र आपको मिलेगा।

ब्रह्म निर्गुण-निराकार से सगुण-साकार बन चुका है और महर्षि विश्वामित्र उसे लेने के लिए आए। तो क्या अन्तर्यामी ईश्वर नहीं जानते कि मारीचि, सुबाहु, ताड़का के द्वारा कितना अन्याय हो रहा है, कितना अत्याचार हो रहा है! पर उनके मन में स्वतः यह संकल्प नहीं आता है कि उनको विनष्ट करने के लिए आगे प्रस्थान करें। उन्हें तो प्रारम्भ से ही कोई प्रेरित करनेवाला चाहिए। **साधना वस्तुतः ईश्वर को प्रेरित करने की एक दिव्य शक्ति है।** इसी दृष्टि से साधना का बड़ा महत्त्व है। मनु-शतरूपा के प्रसंग में यदि उन्होंने पुत्र बनने का प्रार्थना कर दी, तो पुत्र बन गये। कौशल्या जी ने विवेक माँगा, तो उन्हें विराट् रूप का दर्शन करा दिया। पर वह आनन्द अयोध्या तक ही सीमित है।

तब एक महात्मा के मन में उस दृश्य को देखकर पीड़ा उत्पन्न होती है और उन्हें लगता है कि इन राक्षसों का संहार करने हेतु ईश्वर की आवश्यकता है। और ईश्वर अवतार भी ले चुके हैं। तब वे उन्हें लेने जाते हैं। यहाँ भी एक सूत्र बड़े महत्त्व का है। अयोध्या पहुँचकर भी वे कह सकते थे कि अपने पुत्र राम को मुझे दे दीजिए। पर विश्वामित्रजी ने एक शब्द जोड़ दिया – छोटे भाई के साथ –

अनुज समेत देहु रघुनाथा । १/२०७/१०

तो राम क्या अकेले ही राक्षसों का संहार नहीं कर सकते थे? कर सकते थे। पर महर्षि को लगता है कि ब्रह्म की जो सहज प्रकृति है, उसके अनुसार उनको कोई-न-कोई ऐसा चाहिए, जो बार-बार उनके लिए प्रेरक के रूप में कार्य कर सके। और यहाँ पर भी जब महर्षि वाल्मीकि कहते हैं कि मै वह स्थान बताता हूँ, जहाँ आप लक्ष्मणजी और सीताजी के साथ निवास कर सकें, तो उसका मूल सूत्र यह है कि भगवान तो ब्रह्म के रूप में सर्वत्र रहने के लिए बाध्य हैं, परन्तु लक्ष्मणजी ऐसा नहीं करते। लक्ष्मणजी चाहे जहाँ नहीं चले जायेंगे। भगवान जितने उदार हैं, लक्ष्मणजी उतनी ही

कठोरता से स्थान का निरीक्षण करते हैं कि यह रहने योग्य है या नहीं और इसीलिए एक बड़ा विनोद-भरा प्रसंग आता है।

महर्षि वाल्मीकि से संकेत मिला – चित्रकूट में निवास कीजिए। पर चित्रकूट पहुँचकर भी स्थान का चुनाव प्रभु स्वयं नहीं करते। वे लक्ष्मण की ओर देखते हैं। यह घाट तो सुन्दर लग रहा है, मुझे लग रहा है, पर मैं कैसे जानूँ कि तुम्हें भी सुन्दर लग रहा है या नहीं। और कह दिया – भाई, तुम्हीं स्थान चुन करके मेरे ठहरने की व्यवस्था करो –

रघुबर कहेउ लखन भल घाटू।
करहु कतहुँ अब ठाहर ठाटू ।। २/१३३/१

उसका अभिप्राय क्या हैं? निराकार ब्रह्म के लिए कुटिया बनाने की जरूरत नहीं है, पर इस साकार ईश्वर के लिए कुटिया भी चाहिए। और **यह कुटिया ही साधना है।** सोने और चाँदी से बना हुआ महल ही हो, यह आवश्यक नहीं। उसे तो पत्ते और तिनके एकत्र करके भी बनाया जा सकता है। यही मानो सुलभता है। इतनी सुविधा उसने दे दी है। महर्षि वाल्मीकि से इतना ही कह दिया – महाराज, बस, स्थान बतला दीजिए, और कुछ नहीं चाहिए – तिनके में भी रह लेंगे। पत्ते से जो कुटिया बनी है, उसमें भी रह लेंगे –

तहँ रचि रुचिर परन तृन साला।

लक्ष्मणजी बोले – महाराज, मुझे तो लगता है कि यही आपके लिए उपयुक्त स्थान है। देवताओं ने सुना, तो तत्काल कोल-किरातों के वेश में आये और प्रभु के निवास हेतु कुटिया बना दी। भगवान के लिए जो कुटिया बनाई गई, वह बड़ी विशाल थी। और लक्ष्मणजी के लिए एक छोटी कुटिया बना दी। लक्ष्मणजी के लिए कुटिया बनाना तो परम आवश्यक है। गोस्वामीजी कहते हैं – लक्ष्मणजी के लिए जो कुटिया बनी, वह लघु होते हुए भी बड़ी सुन्दर है –

एक ललित लघु एक बिसाला ।। २/१३३/८

देवताओं की बनाई हुई कुटी में वे कुछ दिन तो रहे, पर उन्हें लगा कि इस कुटी में पूरा आनन्द नहीं है। यह 'मानस' की सांकेतिक भाषा है। तब बाद में लक्ष्मणजी ने स्फटिक-शिला में जाकर अपने हाथों से प्रभु के लिए कुटिया बनाई। इसका अर्थ यह है कि देवताओं द्वारा बनाई गयी कुटिया स्वार्थ-प्रेरित थी और इसीलिए उनमें पूरा आनन्द नहीं मिला, क्योंकि **स्वार्थी लोग जब कोई वस्तु दे देते हैं, तो उस वस्तु के कण-कण में उनका स्वार्थ बैठा रहता है।**

हमारे श्री उड़िया बाबा एक घटना सुनाते थे – एक महात्मा भिक्षा के लिए गये। कई ब्रह्मचारी साधक भी साथ में थे। भिक्षा तो मिली, पर उस रात सबको बुरे या अश्लील स्वप्न आए। सबने कहा कि आज बड़े खराब सपने आये। बाबा ने उस गृहस्थ से पूछा – भिक्षा कराते समय मन में क्या कोई कामना थी? वे बोले – हाँ महाराज, पुत्र की कामना थी। – अच्छा, तो यह तुम्हारे अन्न के साथ जुड़े हुए संकल्प का परिणाम था! कामना या संकल्प का बड़ा प्रभाव होता है, इसलिए उसको बड़ा महत्त्व दिया गया है।

तो इसका अर्थ यह है कि देवताओं ने जो कुटी बनाई, उस समय उन्हें भगवान की चिन्ता नहीं थी। उनके मन में तो यह चिन्ता थी कि वे रावण का वध करके हमारे स्वार्थ की रक्षा करें। इसलिए सूत्र यह है कि यद्यपि देवता सद्गुण हैं, पुण्य के द्वारा ही देव-शरीर प्राप्त होता है, पर पुण्य के साथ सर्वदा कामना ही जुड़ी रहती है। इसलिए हमारे शास्त्रों ने जितने भी पुण्य बताए हैं, उनमें से प्रत्येक के साथ फलों का खजाना भी जुड़ा हुआ है – यह व्रत कीजिये तो यह मिलेगा, यह दान दीजिए तो यह मिलेगा। इसलिए भगवान को सबसे अधिक आनन्द तब आया, जब लक्ष्मणजी ने स्वयं अपने हाथों से कुटी का निर्माण किया –

फटिक सिला मृदु बिसाल, संकुल सुरतरु तमाल
ललित लता-जाल हरति छबि बितान की।
मंदाकिनि-तटिनि-तीर, मंजुल मृग-बिहग भीर
धीर मुनिगिरा गभीर सामगान की ।।
बिरचित तहँ परन-साल, अति विचित्र लषनलाल।
निवसत जहँ नित कृपालु राम जानकी।
(गीतावली, ४४)

जो यह कहा जाता है कि अन्तःकरण की शुद्धि कीजिए, तो उसका तात्पर्य यह है कि अन्तःकरण की शुद्धि न होने पर भी ब्रह्म भले ही विद्यमान हो, पर जब तक हमारा अन्तःकरण पवित्र नहीं होगा, शुद्ध नहीं होगा, तब तक उसमें भक्ति और वैराग्य का आगमन नहीं होगा। सीताजी मूर्तिमती भक्ति और लक्ष्मणजी मूर्तिमान वैराग्य हैं। आगे गोस्वामीजी उपमा देते हैं – मानो ज्ञान शरीर धारण करके भक्ति और वैराग्य के साथ चित्रकूट में निवास कर रहा है –

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर ।। २/३२१

और इसका सीधा-सा तात्पर्य है कि ज्ञान के अखण्ड प्रकाश से, स्वयं-प्रकाश रूप में ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान है, पर भक्ति तथा वैराग्य का अभाव है। और भक्ति तथा वैराग्य के बिना हमारे जीवन के दोष-दुर्गुणों का विनाश नहीं हो सकता। वह संकेत आपको सर्वत्र मिलेगा। लक्ष्मणजी तथा सीताजी प्रेरक हैं और उनकी प्रेरणा ही आगे चलकर भगवान की लीला को निरन्तर आगे बढ़ाने में सहयोग करती है। भगवान यदि विश्वामित्र के अनुरोध पर जनकपुर जाते भी हैं, तो महर्षि के हृदय-सत्संग में बैठे हुए वे शान्त हैं। परन्तु लक्ष्मणजी जैसे विरागी के मन में नगर-दर्शन की आकांक्षा होती है। संकोच के कारण वे उसे व्यक्त नहीं कर पाते। उन्होंने स्वयं

सेवक का पद स्वीकार किया है। और यह कार्य बड़ा कठिन है। भर्तृहरि (नी. ५८) सेवक की सबसे बड़ी समस्या की ओर संकेत करते हुए सेवा-धर्म को योग से भी कठिन बताते हैं –

सेवा-धर्मः परम-गहनो योगिनाम् अपि अगम्यः।।

जो व्यक्ति योग का अभ्यास करता है, वह स्वयं जो वस्त्र पहनेगा, जैसे रहेगा, जो भोजन करेगा, उसमें सादगी होगी। पर जो सेवा करता है, वह स्वामी के लिए तो श्रेष्ठ पलंग बिछावे और स्वयं चटाई या साधारण बिछौने पर सोवे, यह कितना कठिन कार्य है? एक योगी ने वस्त्र छोड़ दिये, वह अपने मन को अकेले में केन्द्रित कर रहा है और सेवक स्वामी के लिए सुख की सभी चीजें उपलब्ध करा रहा है और इसके बावजूद उसके मन में उनके लिए रंच मात्र भी आकांक्षा उत्पन्न न हो, यह तो बहुत विराग होने पर ही सम्भव है। **त्यागी से सम्भव नहीं, विरागी से ही ऐसा हो सकता है** – वस्तुओं को देखकर भी और उनमें सक्रिय भूमिका स्वीकार करते हुए भी, उनसे सर्वथा पूरी तरह उदासीन रहना।

तो विरागी लक्ष्मणजी की भूमिका क्या हैं? भगवान के ईश्वरत्व में राग का संचार करने की भूमिका उन्हीं के द्वारा तो सम्पन्न होती है। श्रीराम भले ही जनकपुर में गये, पर वहाँ जाकर भी नगर-दर्शन की कोई आकांक्षा उनके हृदय में नहीं है। किसके हृदय में है? लक्ष्मणजी के –

लखन हृदयँ लालसा बिसेषी। १/२१८/१

विरागी के हृदय में लालसा? और उसका सही उत्तर यही है कि अपने लिए लालसा तो प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में होती है। परन्तु जिस लालसा के द्वारा ब्रह्म को, और ब्रह्म को देखने के बाद जीव के अन्तःकरण में ईश्वर को देखने की लालसा जाग्रत हो, यही भूमिका लक्ष्मणजी की है।

वे चाहते हैं कि जनकपुर-वासी आज तक वेदान्त के ब्रह्म का आनन्द लेते रहे, अब श्रीराम का दर्शन करने के बाद उनके हृदय में प्रभु का रूप, प्रभु का नाम, प्रभु की महिमा के प्रति स्नेह पैदा हो। कितनी कठिन भूमिका है! स्वयं विरागी होते हुए भी लक्ष्मणजी की यही प्रेरक-भूमिका है। प्रभु समझ गये की लक्ष्मणजी नगर देखना चाहते हैं। पर वे महात्माओं से बोलने में बड़े सावधान हैं। कह सकते थे – महाराज, आज्ञा हो तो मैं नगर देख आऊँ। पर जब वे गुरुजी से बोले, तो बड़ी संयत भाषा में बोले – महाराज, लक्ष्मण नगर देखना चाहते हैं। जानते हैं कि यदि कहूँ कि मैं देखना चाहता हूँ, तो वे व्यंग में कह सकते हैं कि तुमको भी – क्या व्यापक ब्रह्म को भी कुछ देखना बाकी है? अतः वे कह देते हैं – नहीं महाराज, मेरे हृदय में लालसा कहाँ है? – पर बोल तो तुम रहे हो। वे तो नहीं कह रहे हैं? – संकोच और आपके भय के कारण बोल नहीं पा रहे हैं इसलिए मैं आपसे प्रार्थना कर रहा हूँ कि इनकी लालसा पूरी की जाय –

नाथ लखनु पुरु देखन चहहीं।
प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं।। १/२१८/५

फिर भगवान को लगा कि महर्षि कहीं यह न कह दें – ठीक है, मैं लक्ष्मण को आज्ञा देता हूँ कि जाकर नगर देख आवे। अतः साथ ही यह भी कह देते हैं – आपकी अनुमति हो, तो मैं इन्हें नगर दिखाकर तत्काल वापस ले आऊँ –

जौं राउर आयसु मैं पावौं।
नगर देखाई तुरत लै आवौं।। १/२१८/६

– तो, तुम भी जाना चाहते हो क्या? – नहीं, मैं तो नहीं जाना चाहता, पर मेरा जाना आवश्यक है। – क्यों? और प्रभु ने एक शब्द जोड़ दिया। यह मानस की विशेषता है कि कोई शब्द केवल पंक्ति पूरा करने के लिए निरर्थक नहीं जोड़ा गया है। बोले – "ये देखना चाहते हैं, तो कोई दिखानेवाला भी तो चाहिए। देखनेवाले को दिखाने का कार्य मैं करूँगा।"

बस, इतने में ही सब कह दिया। कितनी मधुर भाषा में कितनी बड़ी बात कह दी गई! जीव अपनी दृष्टि से देखे और ईश्वर की दृष्टि से देखे, इसमें बहुत अन्तर है। प्रभु चाहते हैं कि लक्ष्मण को मैं दिखलाऊँ। प्रश्न हो सकता था – "तो यदि तुम न जाओ, न दिखलाओ तो क्या होगा? इनकी आयु तुमसे एक-दो दिन ही तो कम होगी! क्या ये स्वयं देखकर नहीं आ सकते?" बोले – "हाँ, आशा तो यही है, पर मैं नहीं जाऊँ, तो न जाने कब लौटेंगे। अनगिनत जीव मेरे पास से माया-नगर देखने गये, पर आज तक लौटकर नहीं आए। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे साथ, मेरी दृष्टि से जो इस महामाया के नगर को देखेगा, वह तुरन्त लौट आयेगा।"

यह संवाद कितना मधुर है! गुरुजी से बहाना बना रहे हैं – महाराज, लक्ष्मण नगर देखना चाहते हैं और मुझे आज्ञा दे दीजिए। लेकिन इसमें तत्त्वज्ञान भरा हुआ है। और महर्षि इसको जानते हैं। वे जानते हैं कि विरागी लक्ष्मण क्या नगर देखना चाहेंगे! और उन्होंने संशोधन किया – तुम कह रहे हो कि लक्ष्मण देखना चाहते हैं, परन्तु मैं उसमें संशोधन कर देता हूँ – केवल लक्ष्मण ही नहीं, तुम भी देखो –

जाइ देखि आवहु नगरु
सुख निधान दोउ भाई।। १/२१८

कितनी बड़ी बात कह दी? बोले – ब्रह्म की दृष्टि से जीव देखे, तो उसका कल्याण है, पर ब्रह्म अपनी दृष्टि से देखेगा, तो उसमें उसे समस्या ही नहीं लगेगी। हम भले ही समझें कि हम विशेष व्यक्ति हैं। पर अनन्त ब्रह्माण्ड में व्यक्ति की कोई सत्ता है क्या? मानो आपकी देह में धूल का एक कण लगा है, उसको आप कितना महत्त्व देंगे?

बड़ा मीठा संकेत है। उन्होंने कहा – ठीक है, तुम इन्हें दिखाना, पर वहाँ तुम्हें भी तो दिखानेवाले मिल जायँगे। ब्रह्म जब जीव की दृष्टि से देखने लगे और जीव जब ब्रह्म की दृष्टि

से देखने लगे, तो बस कल्याण हो गया। ब्रह्म जीव की दृष्टि से देखेगा, तो उसमें करुणा उत्पन्न होगा। उसे दिखेगा – "जीव दुखी है, पीड़ित है, मुझसे स्नेह करता है और सोचेगा कि इसकी भावना को कैसे पूर्ण करें।" और जब जीव ब्रह्म की दृष्टि से देखेगा, तो दिखेगा – "अरे, यह तो कुछ भी नहीं, यह तो जादूगर मायानाथ का खेल है।" उसके जीवन में अनासक्ति का भाव उदित होगा। यही संकेत है। कहते हैं – नगर देखना और दिखलाना एक संकेत मात्र है।

और महर्षि ने यह भी कह दिया – अपना सुन्दर रूप दिखाकर नगरवासियों के नेत्रों को सार्थक भी कर देना –

करहु सुफल सबके नयन
सुंदर बदन देखाई ।। १/१२८

मान लो आपने बहुत दिनों से कोई वृक्ष लगा रखा हो और उसमें फल न आ रहा हो, तो कितनी निराशा होती है? फिर सहसा उसमें फल आ जायँ, तो कितनी प्रसन्नता होती है ! महर्षि ने मानो कहा – जनकपुर-वासियों ने ज्ञान के वृक्ष तो काफी दिनों से लगा रखे हैं, पर अब तक उनमें भक्ति-फल नहीं लगे हैं। बेचारों के पास नेत्र तो हैं, परन्तु जब उन्होंने ब्रह्म को निराकार मान लिया, तो नेत्र की भला क्या सार्थकता? इसलिए अब, जब वे तुम्हारे रूप का दर्शन करेंगे, तो उनके नेत्र धन्य हो जायेंगे।

यह जो आनन्द की सृष्टि है, उसमें यदि लक्ष्मण न हो, तो नगरवासियों को तो श्रीराम का दर्शन ही नहीं होगा। जिस प्रकार सारे जनकपुर-वासियों को उनका दर्शन हुआ और वे दर्शन करके रस में निमग्न हो गये, इसका सारा श्रेय लक्ष्मणजी को ही है। इन विरागी ने अपनी लालसा के बहाने संसार के सारे भक्तों के हृदय में लालसा उत्पन्न कर दी। उनकी इस लालसा के फलस्वरूप सारे जनकपुर-वासियों के हृदय में एक इच्छा उत्पन्न होती है और वह यह कि श्याम वर्ण का यह राजकुमार तो सीताजी के लिए ही उपयुक्त है –

एहिं लालसाँ मगन सब लोगू ।
बरु साँवरो जानकी जोगू ।। १/२४९/६

श्रीमद् भागवत में भगवान श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण की जो रासलीला है, उसमें तो प्रभु अकेले हैं, पर 'मानस' में पुष्प-वाटिका का प्रसंग सरस शृंगार का प्रसंग है। और उस शृंगार में लक्ष्मण उपस्थित हैं। व्यावहारिक अर्थ में लक्ष्मण छोटे भाई हैं। छोटे भाई की उपस्थिति में शृंगार की बात करना, या शृंगार के वातावरण में रहना अमर्यादा मानी जायेगी। पर इस प्रसंग में श्रीराम लक्ष्मण को साथ ले करके जाते हैं। भगवान श्रीकृष्ण के लीला का अन्तंरग अर्थ की व्याख्या की यहाँ अपेक्षा नहीं है। वहाँ वह एक भिन्न अर्थों में है। और वहाँ मर्यादा को स्वीकार करते हुए लीला नहीं है और यहाँ पर मर्यादा को स्वीकार करते हुए जो लीला की गई, उसमें लक्ष्मण की उपस्थिति अनिवार्य है। और उस अनिवार्यता को आप तब देखेंगे, जब भगवान राम सीता जी की सुन्दरता को देखकर मुग्ध होते हैं, तो वे अपनी स्थिति का वर्णन लक्ष्मण से करते हैं। उनसे पूछा जा सकता है – क्या छोटे भाई से ऐसी बात की जानी चाहिए? तो गोस्वामीजी लक्ष्मणजी के बारे में एक शब्द जोड़ दिया – पवित्र मनवाले अनुज –

सिय सोभा हियँ बरनि प्रभु आपनि दसा बिचारि ।
बोले सुचि मन अनुज सन, बचन .. ... ।। १/२३०

वे जानते हैं कि लक्ष्मण के मन पर किसी वातावरण या दृश्य का कोई प्रभाव पड़ता ही नहीं। इसीलिए वे लक्ष्मण-जैसे पवित्र मनवाले भाई से अपने मन की दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं – "हे तात, यह वही जनकजी की कन्या है, जिसके लिए धनुष-यज्ञ हो रहा है। सखियाँ इसे गौरी-पूजन हेतु लायी हैं और वह फुलवारी को आलोकित करते हुए चल रही है। इसकी अलौकिक शोभा को देखकर मेरा स्वभाव से ही पवित्र मन क्षुब्ध हो गया है। इसका कारण तो विधाता ही जानें, पर मेरे तो दाहिने अंग फड़क रहे हैं –

तात जनकतनया यह सोई ।
धनुषजग्य जेहि कारन होई ।।
पूजन गौरि सखीं लैं आई ।
करत प्रकासु फिरइ फुलवाईं ।।
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा ।
सहज पुनीत मोर मनु छोभा ।।
सो सबु कारन जान बिधाता ।
फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता ।। १/२३१/१-४

आप देखते हैं लक्ष्मण कितने विलक्षण हैं? कहीं बोल करके सक्रिय बनते हैं और कभी मौन रह करके। पूरे प्रसंग में लक्ष्मणजी ने स्वयं ही मौन ले लिया कि कुछ बोले नहीं। मानो वे अपनी उपस्थिति का भान होने ही नहीं देना चाहते। उनके हृदय में कितनी पवित्रता होगी। वे सोचते हैं कि इस समय यदि मैं बातचीत में लगूँगा, तो इस समय प्रभु जिस दिव्य भाव में तन्मय हो रहे हैं, उसके रस में बाधक बनूँगा। इसलिए वे मौन रह करके सारे दृश्य को देखते हैं, सुनते हैं। उनके हृदय में कोई भावना, शृंगार की कोई वृत्ति उत्पन्न नहीं होती। तो ऐसे विरागी हैं वे ! और जब धनुष-यज्ञ होता है, तब उसमें भी भगवान राम के मन में धनुष तोड़ने की कोई प्रेरणा उत्पन्न नहीं होती। एक दिन पहले पुष्प-वाटिका में सौन्दर्य देखकर अनुराग का उदय हुआ था। और दूसरे दिन ही धनुष-यज्ञ हुआ और इतना अनुराग होते हुए भी मौन बैठे हैं। उचित तो यही लगता है कि उठकर तत्काल धनुष तोड़ देते और सीताजी की व्याकुलता दूर कर देते। पर उठ ही नहीं रहे हैं और इसका तात्पर्य यही है कि स्वयं उस ब्रह्म में न उठने की प्रेरणा है और न बैठने की। ❖ (क्रमशः) ❖

सार्थक जीवन (३)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(गत कुछ वर्षों में संत गजानन संस्थान अभियान्त्रिकी महाविद्यालय, शेगांव, महाराष्ट्र में स्वामी सत्यरूपानन्द ने उक्त महाविद्यालय में व्यक्तित्व विकास एवं चरित्र-निर्माण विषय पर कुछ कार्यशालाओं का संचालन किया था। इनमें की गई चर्चाओं को लिपिबद्ध कर लिया गया था और कुछ को उक्त महाविद्यालय ने छोटी छोटी पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित किया है। ये सभी चर्चाएँ अंग्रेजी भाषा में ही प्रकाशित हुई हैं। उनमें से एक पुस्तिका का नाम Meaningful Life है। रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर, छत्तीसगढ़ के एक संन्यासी स्वामी निर्विकारानन्द ने इसका अनुवाद हिन्दी में किया है। - सं.)

प्रारम्भ में ही हमने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि मनुष्य का व्यक्तित्व केवल शरीर और मन का संयोग नहीं है, उसके व्यक्तित्व में शरीर-मनःसयोग से कुछ और अधिक है जो वस्तुतः मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनाता है। इस कुछ को वेदान्त आत्मा कहता है। आत्मा का स्वभाव सत्- चित्- आनन्द है। आत्मा मनुष्य का सच्चा स्वरूप है। यही वास्तविक मनुष्य है। स्वरूपतः मनुष्य अजन्मा और इसीलिये मृत्यु रहित भी है। सच्चा मनुष्य या आत्मा शाश्वत, अनादि और अनन्त है। हमारे अज्ञान के कारण हम अपने सच्चे स्वरूप को भूल रहे हैं और इसीलिये दुख में निमग्न हैं।

बाह्य और आन्तरिक जीवन :- हमारी इन्द्रियों को बहिर्जगत का तथा स्वय से भिन्न वस्तुओं का अनुभव करने के लिये बनाया गया है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त जब तक हम स्वस्थ रहते हैं तथा हमारी इन्द्रियाँ काम करती रहती हैं, हम बहिर्जगत का अनुभव करते हैं। हमारी इन्द्रियाँ हमें मात्र बहिर्जगत की जानकारी देती हैं। जीवन भर हम बहिर्जगत के सम्बन्ध में जानकारी इकट्ठा करते रहते हैं। किन्तु बहिर्जगत का ज्ञान हमें हमारे आन्तरिक जगत के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी नहीं देता। हममें से प्रत्येक यह अनुभव करता है कि हमारा एक अन्तर्जगत भी है। संसार का मूर्ख-से-मूर्ख व्यक्ति भी जानता एव अनुभव करता है कि प्रेम, मित्रता, दया जैसी शुभ वृत्तियाँ और ईर्ष्या, क्रोध, शत्रुता जैसी अशुभ वृत्तियाँ भी उसके भीतर हैं। इन वृत्तियों का बाहरी अस्तित्व नहीं है। ये सब हमारे भीतर ही हैं। हमारी इन्द्रियाँ इसका अनुभव नहीं कर सकतीं, फिर भी हम अनुभव करते हैं कि हममें ये वृत्तियाँ हैं।

हम इनका अनुभव कैसे करते हैं? मन के द्वारा ही हम इन्हें जानते हैं और अनुभव करते हैं। अतः मन ही हमारे पास एक ऐसा यत्र है जिसके द्वारा हम अन्तर्जगत को जानते हैं तथा अनुभव करते हैं। जब हम बहिर्जगत से अपनी इन्द्रियों को हटा लेते हैं, मन के द्वारा अन्दर की वस्तुओं को देखने का प्रयास करते हैं तब हमारा अन्तर्जगत से परिचय होता है। यह आन्तरिक जगत ही हमारा वास्तविक व्यक्तित्व है। यह अन्तर्जगत हमें अपने स्वय के सम्बन्ध में जानकारी देता है। हम जान पाते हैं कि हमारे अन्दर असंख्य महान् वस्तुएँ तथा अनन्त सम्भावनायें हैं। तब हम जान पाते हैं कि हमारा बाहरी व्यक्तित्व अन्तर्व्यक्तित्व की अपेक्षा आधा भी नहीं है। किन्तु फिर भी बाहरी व्यक्तित्व कम महत्वपूर्ण नहीं है। बाहरी व्यक्तित्व के माध्यम से हम संसार को जान पाते हैं। ससार का यह ज्ञान हमें हमारे आन्तरिक व्यक्तित्व जानने में सहायता करता है। यह हमें बताता है कि वही सम्पूर्ण मनुष्य है जो बाहरी और आन्तरिक व्यक्तित्व दोनों को जानता है। अल्प ज्ञान अज्ञान ही है, बल्कि अज्ञान से भी अधिक खतरनाक है। सार्थक जीवन जीने के लिये हमें व्यक्तित्व के बाहरी तथा आन्तरिक दोनों पक्षों को जानना आवश्यक है। यहाँ हमें इस बात का स्मरण रखना होगा कि बहिर्जगत आन्तरिक जगत का प्रतिबिम्ब मात्र है। भले ही हम उसे छिपाने का कितना भी कठिन प्रयास क्यों न करें, हमारा जो व्यक्तित्व भीतर है वही हमारे बहिर्व्यक्तित्व में होता है। हम जो भीतर से हैं वह इतनी तीव्र उद्घोषणा करता है कि बाह्य आवरण द्वारा कही गई बात नहीं सुन पाते।

अतः हमें अपने आन्तरिक व्यक्तित्व का विशेष ध्यान रखना होगा। यदि हमारा आन्तरिक व्यक्तित्व सुव्यवस्थित है, तो हमारा बाहरी व्यक्तित्व भी अपने आप सुव्यवस्थित एवं बहिर्जगत के साथ समायोज्य हो जायेगा। अतः हम यह कह सकते हैं कि यही सार्थक जीवन जीने का रहस्य है।

आन्तरिक जीवन का निर्माण :- आध्यात्मिकता सार्थक जीवन की नींव है, किन्तु नैतिकता वह ईंट है जो सार्थक जीवन रूपी इमारत का निर्माण करती है। व्यावहारिक आध्यात्मिकता का नाम ही नैतिकता है। नैतिकता का रास्ता तय किये बिना मनुष्य कभी भी आध्यात्मिकता के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः व्यावहारिक दृष्टि से हम कह सकते हैं कि हमें अपने जीवन को सार्थक बनाने के लिये सर्वप्रथम नैतिक होना होगा। यदि हम मानव प्रकृति का अध्ययन करें तो पायेंगे कि नैतिकता और मानव-स्वभाव परस्पर अविच्छेद्य हैं। नैतिकता के बिना सार्थक जीवन नहीं हो सकता। अतः आन्तरिक जीवन-गठन करने के लिये आदि से अन्त तक

नैतिक होना होगा। अनैतिक मनुष्य पशु बन जाता है। नैतिकता ही मनुष्य को पशुत्व से अलग करती है। कुछ हद तक मनुष्य स्वभाव में पशुता पायी जाती है। पशु-प्रवृतियों को नियंत्रित कर तथा उनको जीतकर मनुष्य नैतिक व्यक्ति बन सकता है। नैतिकता सार्थक जीवन का मौलिक लक्ष्य है। जो लोग नैतिक जीवन की ओर विशेष ध्यान नहीं देते हैं वे लोग शीघ्र मानव प्रतिष्ठा खोकर पशु जगत में जा गिरते हैं। अतः आन्तरिक जीवन गठन के लिये हमें जीवन में नैतिक गुणों का अर्जन और उनका जीवन में आचरण अवश्य करना चाहिए।

(अ) सत्य :- उच्च चरित्र-निर्माण के लिये सत्य पहला नैतिक गुण है। वस्तुतः सत्य के बिना नैतिक चरित्र गठित नहीं किया जा सकता है। अतः हम कह सकते हैं कि सत्य नैतिक जीवन की नींव है। यहाँ हमें सत्य के सम्बन्ध में मूलभूत तथ्य को याद रखना होगा। सत्य के दो आयाम हैं - (१) निरपेक्ष सत्य (२) सापेक्ष सत्य। निरपेक्ष सत्य केवल एक और एक ही हो सकता है। किन्तु सापेक्ष सत्य के अनेकों आयाम हैं। जैसे - यह दीवार जो मेरी दाहिनी ओर है, उन मित्रों के लिये जो कि मेरी तरफ मुँह करके बैठे हैं उनकी बायीं ओर भी है। अतः हमें कहना होगा कि वक्ता के सम्बन्ध से दीवार दाहिनी ओर है। श्रोताओं के सम्बन्ध से दीवार बायीं ओर है, दोनों ही समान सत्य हैं।

यह दर्शाता है कि सापेक्ष ससार में हमें आग्रह नहीं करना चाहिए, न ही हम कह सकते हैं कि हमारा मत या हमारा दृष्टिकोण सत्य है। बल्कि हमें दूसरों के मत और दृष्टिकोणों पर विचार के लिए प्रर्याप्त उदार होना चाहिए। और सत्य के दूसरे आयामों को भी जानने का प्रयत्न करना चाहिए। भ्रांति और अव्यवस्था के इस ससार के शान्तिपूर्ण एव समन्वयपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

अन्ततः हमें निरपेक्ष सत्य तक पहुँचना होगा , जो कि एकमेवाद्वितीय है। निरपेक्ष सत्य का रास्ता सापेक्ष सत्य से होकर ही जाता है। जैसे कि परिधी से केन्द्र की ओर जाना।

(ब) अहिंसा :- अहिंसा और प्रेम एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जब तक हमारे हृदय में प्रेम का विकास नहीं होगा, तब तक हम अहिंसा का अभ्यास नहीं कर सकते। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को क्षति क्यों पहुँचाना चाहता है या फिर किसी अन्य प्राणी को। क्योंकि वह उससे प्रेम नहीं करता। घृणा और स्वार्थ हिंसा के लक्षण हैं। जब तक हृदय में ये दो बुराइयाँ बनी रहेंगी तब तक हम अहिंसा का अभ्यास करने के योग्य कभी नहीं हो सकेंगे। अतः हम कभी भी नैतिक पुरुष नहीं बन पायेंगे। अनैतिक मनुष्य कभी भी चरित्रवान नहीं बन सकता और इसीलिए अपने जीवन को कभी भी सार्थकता प्रदान नहीं कर सकता और न ही समाज उससे लाभान्वित हो सकता है।

हमें अहिंसा क्यों अपनानी चाहिए? कभी कभी यह क्षोभकारी प्रश्न हमारे मन में उठता है। सभी समय के एव देशों के ऋषि-मुनियों ने इसके दो उत्तर दिये हैं। (१) क्योंकि हम सब परमेश्वर की सन्तान हैं और ससार में रक्त सम्बन्ध की तरह परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। भक्ति की दृष्टि से यह उत्तर है। दूसरा उत्तर जो तर्कशील/विचारशील ऋषि-मुनियों या ज्ञानयोगियों ने हमें दिया है वह यह है कि सबकी आत्मा एक एव अविभाज्य है। मेरी अपनी आत्मा ही मुझे विभिन्न नाम-रूपों में दिखाई दे रही है। अतः दूसरों को पीड़ा देना स्वय को ही पीड़ा देना होगा। भले ही मैं इसे अभी अनुभव नहीं कर रहा हूँ परन्तु अन्ततः यह समझने के लिए मुझे किसी-न-किसी दिन बाध्य होना पड़ेगा।

यह हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि हमें अपने कल्याण के लिए ही अहिंसा का अभ्यास करना चाहिए। अहिंसा के अभ्यास से हमारे हृदय में प्रेम स्फुरित होगा और जैसा कि हम सभी जानते हैं कि प्रेम एक ऐसी वस्तु है जिसे हम सर्वाधिक प्रेम करते हैं।

(स) अलोभ :- लोभ नैतिक चरित्र का सबसे महान् शत्रु है जो मनुष्य के चरित्र को सपूर्ण रूप से नष्ट कर देता है। लोभी मनुष्य छोटे छोटे प्रलोभनों के भी वशीभूत हो जाता है और बिना किसी हिचकिचाहट के सत्य के साथ समझौता कर लेता है। लोभी मनुष्य निज स्वार्थ की पूर्ति के लिए अहिंसा जैसे नैतिक गुणों की भी परवाह किये बिना अहित करने में थोड़ा भी नहीं हिचकिचाता। लोभ और स्वार्थ नैतिकता के ताने-बाने हैं। यदि कोई नैतिक जीवन के इन शत्रुओं से स्वयं को बचाने की परवाह नहीं करता तो वह निश्चित रूप से अनैतिकता का शिकार हो जाएगा। अतः हमें चरित्र बनाने एव जीवन में नैतिकता का अभ्यास करने के लिए स्वार्थ तथा लोभ रूपी इन दो शत्रुओं से सतत सावधान रहना होगा। ससार का इतिहास कुख्यात् सामन्तों एव लुटेरों के उदाहरणों से भरा पड़ा है जिन्होंने पृथ्वी को मनुष्यों के रक्त से प्लावित कर दिया था। क्योंकि लोभ और स्वार्थ ने उनकी अन्तरात्मा को अभीभूत कर मानो उनके अन्तःकरण की हत्या कर दी थी।

लोभ संतुष्टि नहीं जानता। लोभी मनुष्य में सबसे बड़ी कमी यह है कि उसका मन उसे यह देखने की अनुमति नहीं देता कि उसके पास क्या है। लोभ उसे उसकी प्राप्त धन-संपत्ति को उसकी आँखों से ओझल कर देता है तथा उसे सर्वदा उन वस्तुओं की प्राप्ति के लिए लुब्ध करता रहता है जो कि उसके

पास नहीं हैं। लोभ व्यक्ति को यह जाने बिना कि जिन वस्तुओं को वह पाना चाहता है उनका उसके लिए उपयोग क्या है, बेचैन कर देता है। दुर्भाग्यवश हमारे देश में भी पिछले दशकों में इस प्रकार निर्लज्ज व्यक्तियों के उदाहरण सामने आये हैं जो पूर्णतः स्वार्थ और लोभ से ग्रस्त थे।

(द) पवित्रता :- वेदान्त कहता हैं कि मनुष्य का सच्चा स्वरूप दिव्य और पूर्ण पवित्र है। पवित्रता हमारा स्वरूप है इसलिए हममें से प्रत्येक अपवित्रता से घृणा करता है। कोई भी अशुद्ध तथा अपवित्र स्थान में रहना नहीं चाहता। हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपनी मानसिक उन्नति एवं सामर्थ्य के अनुसार जिस जगह में रहता है, जो कपड़े पहनता है, जिस वस्तु का उपयोग करता है उसे शुद्ध और पवित्र करने का प्रयत्न करता है।

हम स्वभाव से ही पवित्रता पसन्द करते हैं। कभी-कभी हम ऐसे लोगों को देखते हैं जो कि गंदगी एवं धूल भरे कार्य करते हैं परन्तु जब वे अपने घर लौटते हैं तब वे अपने आप को साफ-सुथरा कर लेते हैं। और जब वे काम कर रहे थे उसकी तुलना में अधिक शुद्ध तथा पवित्र होना चाहते हैं। गंदा आदमी भी अपने से ज्यादा गंदे स्थान पर बैठना या रहना पसन्द नहीं करता। यद्यपि ये उदाहरण बड़े नगण्य एव क्षुद्र से लगते हैं किन्तु ये उस तथ्य की ओर संकेत देते हैं कि पवित्रता मनुष्य में जन्मजात है। मनुष्य पवित्रता पसन्द करता है तथा पवित्र बनना चाहता है।

यद्यपि पवित्रता शब्द बड़ा साधारण सा लगता है किन्तु जब हम इसके अर्थ एवं तात्पर्य पर गभीरता से विचार करते हैं तब हम पाते हैं कि इसका अर्थ बड़ा गहन, गभीर एवं व्यापक है। पवित्रता मानव व्यक्तित्व को बदलने वाला तत्त्व है।

आओ देखें कि पवित्रता एक बाहरी सफाई मात्र नहीं है अपितु आन्तरिक शुद्धता भी है। एक मनुष्य बाहर से साफ-सुथरा हो सकता है किन्तु अन्दर एकदम गंदा हो सकता है। मान लो कि एक साफ-सुथरी पोशाक पहना हुआ तथा व्यवहार कुशल मनुष्य मिथ्यावादी हो, सब लोगों को ठगता हो, वह जालसाजी करता हो, अवैध रूप से सीधे-साधे निर्दोष लोगों की धन-सम्पत्ति ले लेता हो। क्या हम उसकी बाहरी स्वच्छता के आधार पर कह सकते हैं कि वह पवित्र आदमी है? मेरा विश्वास है तथा तुम सब लोग भी मुझसे सहमत होगे कि वह अवश्य ही पवित्र मनुष्य नहीं है। पवित्रता और ईमानदारी एक साथ चलती है। जब तक कि एक व्यक्ति ईमानदार न हो वह बाहर से कितना शुद्ध क्यों न हो, पवित्र मनुष्य कभी नहीं हो सकता। शुद्धता, ईमानदारी तथा सत्य पवित्रता के आवश्यक अंग हैं। मनुष्य जब तक जीवन में पवित्रता का आचरण नहीं करता तब तक वह कभी भी चरित्रवान मनुष्य नहीं बन सकता और चरित्रहीन मनुष्य कभी भी जीवन को सार्थक नहीं बना सकता।

पवित्रता ही बल है :- पवित्र मनुष्य सर्वदा निडर होता है। ईमानदारी उसके रक्त में होती है। पवित्र मनुष्य कभी भी कपटी नहीं होता। पवित्रता आध्यात्मिक जीवन की आधार-शिला है। हम जानते हैं कि आध्यात्मिकता ही मानव जीवन को सच्ची सार्थकता दे सकती है। स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में हम सभी जानते हैं उनका पूर्व आश्रम का नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। संन्यासी बनने से पूर्व जब वे विद्यार्थी थे, उनके पिता की अचानक मृत्यु हो गई तथा धनाभाव और पारिवारिक असुविधाएँ आ गयीं। जीवन की इस संकट भरी घड़ी में जब वे बड़ी कठिनाईयों में थे, ऐसे समय में एक नवयुवती ने उन्हें अपना अपार धन देना चाहा, बशर्ते वे उस युवती को स्वीकार कर लें। किन्तु नरेन्द्रनाथ ने उसे चुटकी भर राख के समान त्याग दिया। उसी प्रकार विश्वप्रसिद्ध सन्यासी बनने के उपरान्त जब वे अमरीका में थे तब एक करोड़पति की लड़की ने स्वामीजी के सामने एक प्रस्ताव रखा कि यदि वे उससे विवाह कर लें तो उसकी सारी सम्पत्ति उसके साथ स्वामीजी की सेवा में होगी। स्वामीजी ने निर्विकार भाव से कहा आप जानते हैं कि मैं एक सन्यासी हूँ तथा मुझे सम्पत्ति और भोग से क्या लेना देना।

तीर्थंकर महावीर, भगवान बुद्ध, आदि शंकराचार्य, समर्थ रामदास तथा अनगिनत हमारे देश में ऋषि-मुनियों को हम सब जानते हैं जो कि मूर्तिमान पवित्रता के ज्वलन्त उदाहरण थे। कोई धन उन्हें नहीं खरीद सका, कोई रूप उन्हें लुभा न सका, कोई शक्ति उन्हें डरा न सकी। क्योंकि उनकी अस्थि-मज्जा तक परम पवित्र थी।

अतः हम देखते हैं कि पवित्रता ही असल ताकत है।

वेदान्त-बोधक कथाएँ (१)

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी विश्वाश्रयानन्द जी ने वेदान्त के गूढ़-गहन तत्त्वो को अभिव्यक्त करनेवाली कुछ कथाओं को बँगला में लिखकर 'गल्पे वेदान्त' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित कराया था। बाद में स्वामी अमरानन्द जी ने उसका आंग्ल रूपान्तरण किया। दोनो ही पुस्तकें काफी लोकप्रिय हुई हैं। उन्ही कथाओ का हिन्दी अनुवाद हम धारावाहिक रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

मिमियाने वाला सिंह-शावक

एक गाँव में गोपाल नाम का चरवाहा बालक रहता था। वह प्रतिदिन अपनी भेड़ों को चरागाह में ले जाकर उन्हें सारे दिन वहीं चराया करता था। चरागाह एक सँकरी नदी के तट पर स्थित था। नदी के उस पार घना जंगल था, अत: उसे बड़ी सावधानी से अपने भेड़ों की निगरानी करनी पड़ती थी। क्योंकि अनेक वन्य जीव उसमें पानी पीने आया करते थे।

एक दिन नदी के उस पार एक सिंहनी आयी। गोपाल उसे देख सावधान हो गया। भेड़ें उसे देखकर तेजी से गाँव की ओर भागने लगीं। सिंहनी ने एक ही छलाँग में नदी को पार कर लिया। लगता था कि आज कोई अनहोनी घटने वाली है। लेकिन वैसा कुछ भी नहीं हुआ। सिंहनी जहाँ कूदी थी, वहीं पाँव फैलाये पड़ी रही। वह इतनी शान्त पड़ी थी कि गोपाल को शंका हुई। थोड़ी देर झाड़ियों में दुबके रहने के बाद वह धीरे-धीरे उसके पास गया। वह सचमुच ही मर चुकी थी। वस्तुत: वह गर्भिणी थी और थकी होने के कारण यह छलाँग उसके लिये घातक सिद्ध हुई। वह उसी स्थान पर एक बच्चे को जन्म देकर परलोक सिधार चुकी थी।

गोपाल उस सिंह-शावक को अपने घर ले गया। पहले तो उसे भेड़ों के दूध पर पाला गया, फिर थोड़ा बड़ा होने पर वह भी भेड़ों के दल में शामिल हो गया। सिंह-शावक के समान दिखने के बावजूद वह प्रतिदिन भेड़ों के साथ चरागाह में जाकर उन्हीं के जैसे घास चरता और बीच-बीच में मिमियाता।

गर्मियों के दिन थे। तीसरे पहर गोपाल एक वृक्ष के नीचे लेटा हुआ विश्राम कर रहा था। तभी सहसा एक बड़ा सिंह चरागाह में आ पहुँचा। भेड़ों का दल मिमियाता हुआ भागने लगा। गोपाल की तन्द्रा टूटी और वह अपनी भेड़ों के पीछे दौड़ा। परन्तु उसे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि सिंह ने भेड़ों को पकड़ने का कोई प्रयास नहीं किया। उसने तो केवल सिंह-शावक को ही दौड़ाकर पकड़ लिया और उसे अपने मुँह में दबाकर नदी के उस पार ले चला।

अपनी ही सिंह-जाति के एक बच्चे को भेड़ों के साथ घास खाते और मिमियाते देखकर उसे बहुत बुरा लगा था। और इसी कारण वह उसे समझा देना चाहता था कि वह भी उसी के समान मांसाहारी सिंह का बच्चा है। उस पार पहुँच कर उसने दूर-दूर तक फैले पर्वतों को गुँजाते हुए जोर की आवाज में गर्जना की और शावक से बोला, "तू भी ऐसे ही गर्जना कर।" उस भयंकर ध्वनि को सुनकर सिंह-शावक आतंकित तो हुआ था, परन्तु उसे विश्वास नहीं हुआ था।

काम न बनता देख सिंह उसे घसीट कर नदी के किनारे ले गया। वहाँ दोनों का चेहरा पानी में प्रतिबिम्बित हो रहा था। सिंह बोला, "देख बेटा, हम दोनों के चेहरे कैसे एक जैसे दिखते हैं! तू भेड़ जैसा कदापि नहीं दिखता।"

बच्चे को थोड़ा विश्वास हुआ। तब सिंह जाकर थोड़ा-सा मांस ले आया। उसका एक टुकड़ा उसने अपने मुख में डाला और दूसरा बच्चे के मुख में ठूँस दिया। मांस का स्वाद चखते ही बच्चे की समझ में आ गया कि वह सिंह की ही जाति का है। आनन्द-विभोर होकर वह गरजने लगा। इसके बाद उसने मुड़कर भी भेड़ों की ओर नहीं देखा और सिंह का अनुकरण करते हुए छलाँग लगाकर अपने वास्तविक निवास – घने जंगलों में चला गया।

हममें से अधिकांश लोग सिंह के उस सम्मोहित बच्चे के समान ही विश्वास करते हैं कि हम दुर्बल तथा असहाय हैं। हमें स्वयं के विषय में अपनी धारणा को बदलने के लिए एक महान् ज्ञानी की जरूरत होती है। ज्ञानी लोग सामान्य लोगों में साहस तथा ज्ञान का संचार करते हैं। इसी प्रकार व्यक्तियों और पूरे राष्ट्र को जाग्रत किया जाता है। ❑❑❑

हिन्दू धर्म की रूपरेखा (१३)

स्वामी निर्वेदानन्द

(प्राचीन काल में वैदिक या सनातन धर्म और वर्तमान में हिन्दू धर्म के रूप में प्रचलित धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है और विश्व के अन्य धर्मों से इसमें क्या समानता व भेद है, इसे समझ पाना हिन्दुओं के लिए भी अति आवश्यक है। विद्वान् लेखक ने अपने बँगला तथा अंग्रेजी ग्रन्थ में इस धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही सहज निरूपण किया है। उसका हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

कर्मयोग (शेषांश)

केवल प्रबल इच्छाशक्ति के बल पर ही (राग तथा द्वेष की) इन भावनाओं को रोका जा सकता है। इसके लिए शत्रु-मित्र, हार-जीत, लाभ-हानि, स्वास्थ्य-रोग आदि सभी द्वन्दों के प्रति समदृष्टि रखने के सुदृढ़ प्रयास की आवश्यकता है। साधक को मन का साम्य बनाये रखने में तत्पर रहते हुए अपने दैनन्दिन कर्तव्यों के सम्पादन में अपनी सारी शक्ति तथा निपुणता लगानी होगी। यही विशुद्ध कर्मयोग है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि निष्ठापूर्वक अनुष्ठित होने पर अन्य योगों के समान ही यह भी साधक को उसकी आध्यात्मिक साधना के चरम लक्ष्य तक पहुँचा देगा।

परन्तु इस विशुद्ध कर्मयोग के लिए जिस विराट् इच्छा-शक्ति की आवश्यकता होती है, वह अत्यन्त दुर्लभ है। अनेक लोगों के लिए यह ज्ञान या भक्ति के साथ मिश्रित रूप में सहज साध्य हो जाती है, क्योंकि आत्मा या प्रेमास्पद भगवान का चिन्तन इस साम्य की प्राप्ति में सहायक है।

जागतिक वस्तुओं के प्रति हमारे आकर्षण या विकर्षण का मूल कारण अविद्या या स्वभाव-जात अनादि अज्ञान है। ज्ञानी लोग जिस अखण्ड परमात्मा को सर्वत्र अनुभव करते हैं, हम अविद्याग्रस्त लोग उनके बारे में अबोध होने के कारण चारों ओर तरह-तरह की असंख्य वस्तुएँ मात्र देखते हैं। इस अनादि अज्ञान के कारण ही हम लोग स्वयं को देह-मन से युक्त अलग-अलग कर्ता-भोक्ता जीवों के रूप में देखते हैं। इसके बाद अविद्या के प्रभाव से ही हम लोगों से प्रत्येक सीमित 'मैं' तथा 'मेरे' को बाकी विश्व से पृथक् और अधिक मूल्यवान वस्तु का भ्रम पालता है। अपने स्वरूप या आत्मा के विषय में ऐसी संकीर्ण तथा भ्रान्त धारणा हममें बद्धमूल है। इसी धारणा के वशीभूत होकर हम इस 'मैं' को पूरे विश्व का केन्द्र समझते हैं। यह 'मैं' एक अज्ञान-प्रसूत प्रातिभासिक सत्ता मात्र है। यह हमारी सच्ची आत्मा नहीं है। असंस्कृत मन तथा इन्द्रियों को रुचिकर लगनेवाली वस्तुओं को खूब उपयोगी मानना ही इस असत्य 'मैं' का स्वभाव है। इसीलिए निश्चित रूप से इन वस्तुओं के प्रति आकर्षण और इनके विपरीत प्रकार की वस्तुओं के प्रति विकर्षण उत्पन्न होता है। और इस राग-द्वेष से ही असंख्य कामनाओं की उत्पत्ति होती है। अत: कामनाओं का त्याग करने के लिए कर्मयोगी को अविद्या से लोहा लेना पड़ता है। इस अविद्या को दूर करने का एक उपाय है आत्मा तथा जगत् के स्वरूप पर विचार तथा मनन करना। यह ज्ञानयोग की पद्धति है।

मुक्ति की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को उच्च आध्यात्मिक भूमि पर खड़े होना सीखना होगा। विश्व के मूल में एक अखण्ड परमात्मा हैं – यह स्मृति बनाये रखने का उसे सदैव प्रयास करना होगा। उसे यह धारणा करनी होगी कि वस्तुत: वह स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर से पृथक् दिव्य आत्मा के रूप में विश्व का एक निर्लिप्त, निर्विकार, शाश्वत साक्षी मात्र है। वह कर्ता भी नहीं है और भोक्ता भी नहीं है। प्रकृति ही देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और अहंकार की स्रष्टा तथा चालक है। सारा कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व प्रकृति का है।[१] अत: जब देह-मन किसी कार्य में लगते हैं, तो इस सत्य की धारणा करने की चेष्टा करनी होगी कि वह कार्य प्रकृति ही कर रही है और साधक की आत्मा उससे पूर्णत: निर्लिप्त है। सिद्ध योगी वास्तव में अनुभव करते हैं कि जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति के दौरान देह-मन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में वे स्वयं अचल अविकारी साक्षी मात्र हैं। देह-मन के कर्म में लगे रहने पर भी उन्हें बोध नहीं होता कि वे स्वयं कुछ कर रहे हैं।[२] सिद्ध योगी की ज्ञानदृष्टि का चिन्तन उनके आचरण का अनुकरण करने में सहायक है और यह अनुकरण ही तो कर्मयोग है। इस प्रकार का चिन्तन अविद्या की निद्रा का नाश करता है और इसके फलस्वरूप मन के मूलभूत राग-द्वेष क्रमश: घट जाते हैं और कामनाएँ निर्मूल हो जाती हैं। इस प्रकार जो लोग ज्ञानयोग की सहायता लेने में समर्थ हैं, उनके लिए कर्मयोग सुसाध्य हो जाता है।

यह ज्ञान-मिश्रित कर्मयोग भी बहुतों के लिए कठिन सिद्ध हो सकता है। विश्व के मूल में जो एक अद्वय परब्रह्म हैं, उन्हें साधक एक अन्य दृष्टिकोण से भी देख सकता है। परब्रह्म ही जगत् के नियन्ता ईश्वर बने हैं और साधक स्वयं उनका एक यंत्रमात्र है – ऐसा चिन्तन भी कई लोगों के लिए सहज हो सकता है। गीता में भगवान कहते हैं – ईश्वर हर जीव के हृदय में आसीन होकर अपनी दुर्बोध माया-शक्ति के प्रभाव से उसको कठपुतली के समान चला रहे हैं।[३]

अपने को निर्लिप्त साक्षी आत्मा के रूप में चिन्तन करने की अपेक्षा ईश्वर के साथ ऐसे एक योगसूत्र की कल्पना करना

कहीं अधिक आसान है – "मैं यंत्र हूँ, तू चालक है; मैं रथ हूँ, तू यात्री है; मैं घर हूँ और तू उसका निवासी है।" जब तक कच्चे, असत्य 'मैं' का उच्छेदन नहीं हो जाता, तब तक ईश्वर के साथ ऐसे ही सम्पर्क का ध्यान उपयोगी है। उन्हीं की दैवी माया द्वारा उत्पन्न यह 'मैं' कर्ता तथा भोक्ता बन जाता है। ईश्वर ने अपनी परा प्रकृति का आश्रय लेकर असंख्य जीवात्माओं का रूप धारण किया है और अपरा प्रकृति का आश्रय लेकर वे देह-मन-इन्द्रिय आदि तथा समग्र जड़ जगत् में रूपायित हुए हैं। जब तक इस मिथ्या 'कच्चे मैं' को छोड़कर उन्हीं को एकमात्र पारमार्थिक सत्ता मानना हमारे लिए सम्भव नहीं हो पाता, तब तक हम लोगों के लिए यही सोचना अच्छा होगा कि वे ही हम लोगों को यंत्र बनाकर अपनी ईश्वरी इच्छा पूरी कर रहे हैं। इसीलिए गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था – "ये सभी पहले से ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं, तुम केवल निमित्त मात्र बनो।"[४]

"तुम पूर्ण हो, मैं अंश हूँ; तुम समुद्र हो, मैं तरंग हूँ; तुम अग्नि हो, मैं चिनगारी हूँ" – इस प्रकार साधक ईश्वर के साथ अपनी एकात्मता का चिन्तन करते हुए अपनी अनादि अविद्या को नष्ट करने का प्रयास कर सकता है।

एक और भी सहज उपाय है – भक्तियोग में निर्दिष्ट पिता, माता, मित्र, स्वामी आदि किसी आत्मीयता के सूत्र को पकड़कर भगवान को खूब अपना समझना। हमें सोचना होगा – "उन्होंने ही मुझे जगत् में अपना कार्य करने को भेजा है। मंगलमय की इच्छा से ही यथासाध्य अन्य सभी का हितकामी होकर उनकी सेवा करने का भार मुझे मिला है। निकटतम सम्बन्धी से लेकर सम्पूर्ण मानव-जाति तक – वे ही सबके मालिक हैं और सभी लोग उन प्रेममय के असीम प्रेम द्वारा लालित हैं। मेरे माता, पिता या स्वामी रूपी ईश्वर सबका कल्याण चाहते हैं। उनकी यह इच्छा पूरी करने के लिए कर्म का एक उचित अंश स्वीकार करना मेरा कर्तव्य है। स्वयं को चिर काल के लिए किसी एक परिवार के साथ आत्मीयता के सूत्र में आबद्ध न मानकर, सोचना होगा कि सभी मनुष्य उनकी सन्तान और मेरी सेवा के भाजन हैं। अपने सम्प्रदाय, देशवासियों, जाति, यहाँ तक कि समग्र मानव-समाज को इसी दृष्टिकोण से देखना होगा। हर व्यक्ति के प्रति मेरा आचरण उस दासी के समान होना चाहिए, जो मालिक के लड़के की बड़े ही यत्न से देखभाल करती है, परन्तु मन-ही-मन खूब जानती है कि ये मालिक के लड़के हैं, उसके अपने कोई नहीं। वस्तुतः ईश्वर ही सारी धन-सम्पदा के मालिक हैं। मृत्यु के समय मुझे सब कुछ यहीं छोड़कर जाना होगा। जब तक जीवित हूँ, तब तक उनकी सम्पत्ति का व्यवस्थापक मात्र हूँ। मेरा अपना कुछ भी नहीं है – सब उन्हीं का है। एक विश्वस्त नौकर जैसे मालिक की धन-सम्पदा की यथोचित व्यवस्था करता है, तथापि यह जानता है कि इस पर उसका बिन्दु मात्र भी अधिकार नहीं है, ठीक उसी प्रकार इस समय जो धन-सम्पत्ति इस समय मुझे अपनी प्रतीत हो रही है, उसकी देखभाल मुझे करनी होगी।" – इस तरह का चिन्तन क्रमशः हमारे मूल अज्ञान के अँधेरे को दूर करके कर्मयोग को हमारी क्षमता की परिधि में ले आयेगा।

इस चिन्तन के फलस्वरूप जब वैसा ही दृष्टिकोण पक्का हो जाता है, तब गृहस्थ-जीवन का परिवेश पवित्रता से परिपूर्ण हो जाता है। तब प्रत्येक वस्तु ईश्वर से जुड़ी दिखती है। तब मन में कोई ऐसा छिद्र नहीं रह जाता, जिसमें निकृष्ट स्वार्थपरता छिपी रह सके। कच्चा 'मैं' भगवान का प्रिय तथा विश्वस्त कर्मचारी बन जाता है। सब कुछ पवित्र बन जाता है, कुछ भी राग-द्वेष का विषय नहीं रह जाता। इससे सभी जागतिक कामनाओं का उद्गम अवरुद्ध हो जाता है और अपना कर्तव्य ईश्वर के कार्य में परिणत हो जाता है। कर्म का फल उन्हीं को अर्पित करते हुए कर्म सम्पन्न करने साधक की निष्ठा सहज हो जाती है। इस अवस्था में चलते समय मार्ग में भला-बुरा जो भी आता है, साधक उसे अपने ही कल्याणार्थ मंगलमय द्वारा निर्धारित मानकर अविचलित चित्त के साथ सिर झुकाकर उसे स्वीकार कर लेता है।

इस प्रकार कर्मयोग की साधना में भक्तियोग की सहायता ली जा सकती है। यह भक्ति-मिश्रित कर्मयोग ही अधिकांश साधकों के लिए विशेष उपयोगी होता है। वस्तुतः मोक्षकामी गृहस्थों के लिए यह साधन-व्यवस्था अति अद्भुत है।

तथापि यह ध्यान रखना होगा कि कर्मयोग, चाहे ज्ञान के साथ हो या भक्ति के साथ, गृहस्थों के लिए यही अपरिहार्य आध्यात्मिक साधना है। इनमें से किसकी सहायता ली जाय, यह साधक की व्यक्तिगत क्षमता पर निर्भर करता है। परन्तु कर्मयोग चाहे जिस रूप में भी अनुष्ठित हो, जागतिक जीवन को आध्यात्मिक जीवन में विलीन कर देना ही प्रत्येक श्रेयकामी गृहस्थ की वास्तविक साधना है। इसमें अपने सभी सांसारिक कार्यों को ईश्वर की उपासना में परिणत करना पड़ता है। इस प्रकार की एकनिष्ठा के फलस्वरूप मन शीघ्र ही निर्मल हो जाता है और साधक अध्यात्म-पथ पर द्रुत वेग से अग्रसर हो जाता है।

अत: यह बात नि:सन्दिग्ध रूप से कही जा सकती है कि कर्मयोग सांसारिक जीवन को पूर्ण रूप से आध्यात्मिक जीवन में रूपान्तरित करने का एक अभूतपूर्व मार्ग है। आध्यात्मिक साधना की अन्तिम सीढ़ी – निवृत्ति मार्ग के लिए राजयोगी, ज्ञानयोगी या भक्तियोगी साधक को पहले ही समस्त सांसारिक विषयों से पूर्णरूपेण सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना पड़ता है। क्योंकि सांसारिक जीवन की आत्मीयता का बन्धन तथा कर्तव्य का गुरु दायित्व इन तीनों योगों की साधना की निष्ठा में बाधक बन जाते हैं। इसीलिए इन तीन योग-मार्गो के जो निष्ठावान साधक हैं, उन्हें सामान्यत: अपने सभी पारिवारिक सम्पर्कों को छोड़कर गार्हस्थ्य जीवन के सारे कर्तव्य त्याग देने पड़ते हैं। अध्यात्म-साधना से न जुड़े हुए समस्त उद्वेगों तथा दुश्चिन्ताओं से मुक्त होकर ही वे लोग अपने जीवन का एक नया अध्याय आरम्भ करते हैं। इसी को संन्यास-ग्रहण कहते हैं। इस संन्यास-ग्रहण की दीर्घकालीन प्रथा से जन-साधारण के मन में ऐसी धारणा हो गयी है कि जागतिक जीवन आध्यात्मिक जीवन का विरोधी है और मानो आध्यात्मिकता तथा सांसारिकता में आकाश-पाताल का भेद है। परन्तु कर्मयोग इस भ्रान्त धारणा का प्रतिवाद करता है। कर्मयोग समझा देता है कि गार्हस्थ्य जीवन आध्यात्मिक उन्नति में बाधक न होकर, बल्कि उसकी गति में वेग उत्पन्न कर सकता है। योग के प्रभाव से लौकिक कर्तव्य आध्यत्मिक साधना में रूपान्तरित हो जाते हैं। इसीलिए आत्मीयता के अनेक सम्पर्कों से युक्त तथा गुरु दायित्वों से परिपूर्ण गृहस्थाश्रम साधना-क्षेत्र में परिणत हो जाता है। कर्मयोगी के दृष्टिकोण से यह समझ में आ जाता है कि वन की निर्जनता की तुलना में सामाजिक परिवेश में साधना भी कम अनुकूल नहीं है।

गीता में यह स्पष्टोक्ति मिलती है कि जनक आदि राजर्षि अपने सांसारिक कर्तव्यों का त्याग न करके भी सिद्ध हुए थे।[५] उपनिषदों में ऐसे अनेक राजर्षियों का उल्लेख है, जिनके पास ब्राह्मण भी ब्रह्मविद्या प्राप्त करने आया करते थे। पुराणों में भी ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं, जिनमें समाज के प्राय: प्रत्येक स्तर के गृहस्थ साधकों ने कर्मयोग की सहायता से परमार्थ की उपलब्धि करके धन्यता का बोध किया है।

वैसे ऐसी बात नहीं है कि कर्मयोग का साधन केवल गृहस्थों के लिए ही हो। मन की समता में प्रतिष्ठित होने के पूर्व ही जो लोग संन्यास ले लेते हैं, उनका भी कर्मयोग के बिना काम नहीं चलता। उन्हें ज्ञान-मिश्रित या भक्ति-मिश्रित कर्मयोग की सहायता से अपने मन को काफी कुछ पवित्र तथा शान्त कर लेना चाहिए। अन्यथा उनके लिए किसी गम्भीर साधना में पूर्ण रूप से मनोनियोग करना सम्भव नहीं होता। और ऐसे मामलों में संन्यास-जीवन आलस्य तथा आराम-प्रियता में परिणत होकर शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो सकता है। वस्तुत: जब तक मन राग-द्वेष से मुक्त होकर किसी भी साधना में एकाग्र होने की क्षमता अर्जित नहीं कर लेता, तब तक सभी के लिए कर्मयोग अपरिहार्य है। इसमें सन्देह नहीं कि संसार-त्याग से आध्यात्मिक जीवन में सहायता मिलती है, पर जब तक निष्काम कर्म के द्वारा कामनाओं को जीतकर चित्त को शुद्ध कर नहीं लिया जाता है, तब तक कोई भी समग्र रूप से कर्म-त्याग (कर्म-संन्यास) का अधिकारी नहीं हो पाता। कामनाओं का वेग शान्त हुए बिना मन निस्तब्ध होकर निरन्तर ध्यान या समाधि में मग्न नहीं रह सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गृही हो या संन्यासी, प्रत्येक श्रेयकामी व्यक्ति के लिए कर्मयोग ही उपयुक्त मार्ग है। परन्तु दोनों की साधना में एक मूलभूत भेद है। गृहस्थ का कर्तव्य सामाजिक उत्तरदायित्व के माध्यम से निर्धारित होता है, और आसक्ति-रहित संन्यासी का कर्तव्य आत्मीयता के किसी संकीर्ण दायरे में अवरुद्ध न होकर विश्व-मानव की निरपेक्ष सेवा में परिणत होता है। अखिल मानवता के प्रति संन्यासी की समदृष्टि में जाति, वर्ग, सम्प्रदाय आदि बाधक नही हो सकते। जब तक चित्त पूर्ण रूप से शुद्ध न हो जाय, तब तक जाति-वर्ण से निरपेक्ष भाव से, लोगों के लौकिक तथा पारमार्थिक कल्याण हेतु किये जानेवाले सेवा-कार्य में संन्यासी को कर्मयोग-साधना के असीम अवसर प्राप्त होते हैं।

---

१. गीता, ३/२७ २. गीता, ५/८ ३. गीता, १८/६१
४. गीता, ११/३३ ५. गीता, ३/२०

(क्रमश:)

आत्माराम की आत्मकथा (१६)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। डॉ. डी. भट्टाचार्य कृत इसके हिन्दी अनुवाद की पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमशः प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

श्रीनगर में

उतरते वक्त रास्ता अच्छा ही था, इसलिए उतना कष्ट भी नहीं हुआ, लेकिन भिक्षा की असुविधा पहले की तरह थी। उधर भी एक श्रीनगर है – गंगाजी के किनारे समतल भूमि पर तस्वीर की भाँति सुन्दर और छोटा नगर ! काफी दिनों पूर्व पूज्य सारदानन्दजी तथा तुरीयानन्दजी अपने भ्रमण के दौरान इस स्थान पर कुछ दिन रहे थे। एक वृद्ध ने एक फलों का बाग दिखाकर कहा – "बहुत दिनों पहले इसी बाग की झोपड़ी में एक सुन्दर बंगाली साधु रहते थे, बड़े अच्छे साधु थे। गाँव में और मेरे मकान में भिक्षा करते। वे कलकत्ते के एक बड़े योगी रामकृष्ण परमहंस के शिष्य थे। बाद में उनके एक और गुरुभाई आये थे। वे केवल थोड़े दिन यहाँ रहे। बाद में दोनों ही चले गये। पूज्य हरि महाराज से सुन रखा था कि वे और बाद में पूज्य शरत् महाराज ने वहाँ कुछ दिन निवास किया था। इसीलिए उन वृद्ध की बातें सुनते ही समझ गया कि वे उन्हीं के बारे में कह रहे हैं। वहाँ चार दिन रहा। और भी रहने की इच्छा थी, परन्तु पेचिश में क्रमशः वृद्धि होने के कारण उस इच्छा का त्याग करना पड़ा।

रास्ते में **कर्णप्रयाग** से देवप्रयाग तक बड़ा कष्ट हुआ था। सुबह चलकर रात को आठ बजे वहाँ पहुँचा। सारे रास्ते खाली पेट भीगते-भीगते देवप्रयाग में मरणासन्न होकर पहुँचा। बैठने की भी शक्ति नहीं थी। धर्मशाले में जहाँ मैंने आसन लगाया, वहीं दो बंगाली साधु थे। जब उन्हें मालूम हुआ कि सुबह से आहार नहीं मिला है, तो उनमें से एक चिन्तित होकर मैनेजर के पास गये और विशेष कारण बताने के बाद आटा आदि सीधा लाकर रोटी-सब्जी बनाया। रात के लगभग ग्यारह बजे भोजन हुआ। तीसरे दिन मैं देवप्रयाग से स्वर्गाश्रम-ऋषिकेश आया।

अन्नत्याग : एक नया प्रयोग

वहाँ गंगा के किनारे एक कुटिया खाली थी। उसी में चार या साढ़े चार महीने रहा। यहाँ एक नया प्रयोग किया – 'अन्न न खाकर रहने का'। घर-बार छोड़ने के बावजूद अन्न का दास होना पड़ता है। दूसरों से ग्रहण करना ही पड़ता है। मन जैसी स्वाधीनता चाहता है, वैसा नहीं हो पाता। यथेच्छा जाना मुश्किल होता है, यथेच्छा रहना असम्भव हो जाता है। कई बार अन्न के लिए अति सामान्य व्यक्ति के अधीन होना पड़ता है। चुपचाप असह्य अपमान सहना पड़ता है। कही तो पूजा तथा सम्मान के साथ भिक्षा मिलती है और कहीं दुत्कार व अपमान सहित। वैसे ज्ञानी लोगों ने उपदेश दिया है कि मान-अपमान की ओर ध्यान दिये बिना, सुविधा-असुविधा का खयाल किये बिना, शरीर धारण हेतु यथाप्राप्त अन्न-वस्त्रादि ग्रहण करना चाहिए। और राग-द्वेष से रहित होकर ब्रह्म में तल्लीन रहने को कहा है। परन्तु यह कितना कठिन है, यह तो वही जान सकता है, जो पूर्व काल के आचार्यों के कथनानुसार अपना संन्यासी जीवन चलाने की कोशिश करता है। मित्र-आश्रय आदि से रहित, कपर्दक-विहीन परिव्राजक जीवन की अपेक्षा किसी आश्रम में रहकर समय बिताना या किसी धनी गृहस्थ मित्र या शिष्य की आर्थिक सहायता पर निर्भर करके निश्चिन्त संन्यास-जीवन बिताना काफी सहज तथा सुखसाध्य है।

अस्तु, निश्चित किया कि कुछ दिनों के लिए अन्न-ग्रहण छोड़कर पेड़ों के पत्ते-फल-मूल आदि खाकर रहूँगा। यदि जम गया, तो पूरी तौर से स्वाधीन हो जाऊँगा, 'अन्नचिन्ता' के हाथ से सदा के लिए मुक्त हो जाऊँगा। और इसके लिए जितना शारीरिक और मानसिक क्लेश होता है, वह भी नहीं रहेगा। जंगल में बन्दर पेड़ों के जो पत्ते आदि खाते हैं, उनका कभी अभाव तो होगा नहीं। और उसके लिए किसी के समक्ष हाथ भी नहीं फैलाना होगा। फल मिलें, तो और भी अच्छा।

स्वर्गाश्रम के डेढ़ मील पीछे नीलकण्ठ के मार्ग में या उसके पास ही बेल के पेड़ों का जंगल-सा था, जिसमें काफी बेल लगे थे। निश्चय किया – बेल-पत्ते तथा उबले बेल खाकर ही कुछ दिन रहूँगा। किसी को बिना बताये यह प्रयोग आरम्भ किया। यदि बताकर नहीं कर सका, तो वह लज्जाजनक बात होती, इसीलिए प्रतिदिन एक बार की भिक्षा क्षेत्र से ले आता था। वैसे, जान-बूझकर भिक्षा बहुत कम लेता था और सुविधा होने पर संध्या के समय किसी और को दे देता था या पंजाबी लोगों के समान गंगा में मछलियों को भोग चढ़ा देता। परन्तु क्रमशः शरीर बड़ा दुर्बल प्रतीत होने लगा और नींद भी खूब बढ़ गयी। पेट में वायु इतनी अधिक होती थी

कि मैं परेशान हो उठा। अन्य दो-चार पेड़ों के थोड़े-बहुत पत्ते भी खाकर देखा, परन्तु कुछ दिन पश्चात् शारीरिक दुर्बलता इतनी बढ़ गई कि एक घण्टा बैठकर ध्यान-जप करने की क्षमता नहीं रह गयी। लम्बायमान होकर इसी प्रकार चौबीस घण्टों में से बीस घण्टे पड़ा रहता।

खाद्य में सहसा परिवर्तन से ही ऐसा हुआ है – सोचकर दो-चार दिन और भी शरीर-तंत्र को अभ्यस्त करने का प्रयास किया। लेकिन बाद में सोचने की शक्ति भी क्षीण होते देखकर भय लगा। सोचा – कहीं बुद्धि पशुओं की तरह जड़ तो नहीं हो जायेगी। भाग्य में अन्न का दासत्व दृढ़ता के साथ अंकित है या इस देह में इतनी कठोरता सहन करने की सामर्थ्य नहीं है – मशीन बिगड़ जाने से तो ध्यान, धारणा, तप, ईश्वर-दर्शन, सेवा आदि सब कुछ नष्ट हो जायेगा। इसलिए संन्यासी-जीवन में थोड़े-बहुत परतंत्र होने या पराधीनता स्वीकारने के सिवा कोई उपाय नहीं है – आदि बातें सोचकर पुनः पहले के समान ही अन्न ग्रहण करने लगा। वैसे उस दिन से माधुकरी के प्रति थोड़ा विराग-सा आ गया और भिक्षा न करके एक स्थान में ही प्रभु की इच्छा से जब तक अन्न न मिले, तब तक चुपचाप पड़े रहने में आस्था प्रतिदिन बढ़ने लगी। जितना ही विचार करने लगा, उतना ही लगने लगा कि संन्यासी और विशेषकर परिव्राजक के लिए यही एकमात्र सम्मानयुक्त मार्ग है। लेकिन कर्मभोग को भला कौन खण्डित कर सकता है? वैसे मेरा विश्वास है सर्वेश्वर प्रभु अपनी इच्छा से खण्डन या मण्डन कर सकते हैं। वे इच्छामय हैं। अस्तु।

वृन्दावन की ओर

मानो मेरा कोई कर्म ही फलीभूत होकर मुझे खींचते हुए स्वर्गाश्रम से वृन्दावन की ओर ले चला। इतने स्थान रहते, वृन्दावन ही क्यों? कौन जाने? कैसे भी मन को रोक नहीं सका। वह वृन्दावन जाकर कुछ दिन भगवान श्रीकृष्ण की लीलाभूमि में रहेगा। पैसा नहीं है, पैदल ही जाना पड़ेगा, शरीर दुर्बल है, पर चिन्ता नहीं, यदि चलते-चलते शरीर नष्ट भी हो जाये, तो उसमें क्या हानि है? उसे कर्मभोग से छुटकारा मिल जायेगा और झंझटें भी दूर हो जायेंगी। वह जायेगा ही। इसलिए मैं वृन्दावन की ओर चल पड़ा।

हरिद्वार-कनखल जाकर चार-पाँच दिन सेवाश्रम में रहा, ग्रैंड कानपुर कैनाल के किनारे-किनारे एक दिन वृन्दावन की ओर रवाना हुआ। ब्रह्मचारी देवेन (बाद में स्वामी देवानन्द) ने साथ जाने की इच्छा प्रकट की, लेकिन भिक्षा आदि के कष्ट का काफी पूर्वानुभव होने के कारण ऐसी दृढ़ धारणा हो गयी थी कि किसी साथी को ले जाना उचित नहीं है। इसलिए राजी नहीं हुआ। अकेले हो, तो यथेच्छा रहना, खाना आदि किया जा सकता है, अर्थात् अपने भाव में रहा जा सकता है। कोई साथी होने पर उसकी सुविधा-असुविधा, भाव-अभाव आदि का ध्यान रखते हुए चलना पड़ता है। उसमें पूरी स्वाधीनता नहीं रहती।

पहले दिन ही कष्ट का अनुभव हुआ। दोपहर के डेढ़-दो बजे एक गाँव में पहुँचा और नहर के किनारे एक आम्रवृक्ष की छाया में बैठा। एक सोनी ने मुझे देखकर पूछा कि भिक्षा मिली है या नहीं? नहीं मिली – जानकर मुझे अपने साथ ले गया और भिक्षा में थोड़ा आटा, कुछ धानयुक्त लाई और नमक दिया। अनायास ही प्राप्त भिक्षा को महापुरुषगण उत्तम कह गये हैं। उसे लेकर नहर के किनारे गया और यथासम्भव लाई में से धान को निकालकर गिलास के पानी में सब कुछ घोलकर पी गया। भगवान ने ही बचाया, यदि देवेन भाई आते तो बहुत मुश्किल होती। संध्या के समय रुड़की पहुँचा। प्राकृतिक सौन्दर्य का उपभोग करते हुए और धीरे-धीरे चलने की मेरी आदत है। रात बिताने के लिए धर्मशाले में गया। एक वैश्य भक्त ने देखकर पूछा – कुछ खायेंगे? वैसे सुबह की भोजन रुचिकर तो नहीं था और पेट भी नहीं भरा था। अतः मैं राजी हुआ और उसने तत्काल पूरियाँ और सब्जी ला दीं। प्रभु की जो इच्छा!

अगले दिन मुजफ्फरनगर की ओर चल पड़ा। गर्मी से बड़ा कष्ट हो रहा था। रास्ते के दोनों किनारे आम और जामुन के पेड़ फलों से लदे थे, बड़े-बड़े काले जामुन नीचे पड़े हुए थे। चुन-चुनकर उन्हें गिलास में रखकर आनन्दपूर्वक खाता हुआ चल रहा था। कभी-कभी आम भी मिल रहा था, अन्न की कोई चिन्ता नहीं थी। शाम को एक बड़े गाँव मे आश्रय लिया। धर्मशाला गाँव के रईस या जमींदार के घर से लगा हुआ था। उसके भाई मुझे देखकर पास आये और नौकर से जगह साफ करवा दिया। रात में बड़े यत्नपूर्वक मुझे रोटी, दाल और दूध खिलाया और शास्त्र-चर्चा भी हुई। वे आर्य-समाज के बड़े विरोधी थे और ढूँढ़-ढूँढ़कर उनके दोष बताने लगे। वैसे उनमें से अधिकांश बातें पूर्णतः काल्पनिक तथा अयौक्तिक थीं।

दूसरे दिन दोपहर को ढाई-तीन बजे मुजफ्फरनगर पहुँचा। एक बंगाली डॉक्टर ने मुझे जाते देखकर बुलाया। वे मुझसे पूर्णतः अपरिचित थे। पूछा – "आप बंगाली हैं क्या?" मेरे –"हाँ" – कहने पर – "कहाँ से आये हैं? कहाँ जायेंगे?" आदि के बाद पूछा – "खाना हुआ है क्या?" – "नहीं हुआ है" – सुनकर कहने लगे – "पेटे ना पड़ले की पीठे सय (पेट में दाना पड़े बिना घोड़े की पीठ पर बोझ नहीं लादा जा सकता) ब्रह्म आदि का ध्यान भला कैसे होगा? ठीक है न महाराज! सुबह कुछ जलपान हुआ था क्या?" – "नहीं, वह भी नहीं जुटा।" तो जाइये पहले प्रधान देवता – पेट की पूजा करके आइये, उसके बाद ही अन्य बातें होगी।" यह

कहकर उन्होंने मुझे आठ आने पैसे दिये। सहसा इस प्रकार बुलाकर परिचितों की भाँति व्यवहार और बिना माँगे दान पर मैं तो अवाक् रह गया।

पूरी-तरकारी खाकर फिर उनके औषधालय में पहुँचा। मुझे देखते ही कहा – "वृन्दावन जायेंगे, मुझे मालूम है। कितनी दूर है वह जगह! कितना खराब है वहाँ का रास्ता! और गर्मी के इन दिनों में धरती की क्या दशा है! – निश्चित रूप से आप यह सब नहीं जानते, वरना ऐसी दुर्बुद्धि क्यों होती? रात को रहने की इच्छा है या जाने की?" मैंने कहा – "महाशय, मैं रात को नहीं चलता, दिन में ही चलता हूँ। यहाँ शहर के बाहर, मेरठ की सड़क पर एक धर्मशाला है, वहीं जाकर रहूँगा और सुबह ...।" डॉक्टर कहने लगे – "मैं समझ गया। अब आगे कहने की जरूरत नहीं। कहीं ऐसा प्रण तो नहीं किया कि गाड़ी में नहीं बैठेंगे। हम तो गृहस्थ हैं, संन्यासियों की बात क्या समझें!" मैंने कहा – "वैसी कोई बात नहीं है, पर ...।" डॉक्टर बाबू – "समझ गया, और कुछ कहने की जरूरत नहीं। यदि आपको मेरठ तक टिकट खरीद दूँ, तो उसमें आपको कुछ आपत्ति तो नहीं?" मैंने कहा – "स्वेच्छा से दें, तो भला क्या आपत्ति हो सकती है?" डॉक्टर बाबू ने कहा – "नहीं, तो भी ...।"

टिकट खरीदने के लिए नौकर को साथ भेजा। जाते समय उनके इस उदार तथा मृदु व्यवहार के लिए धन्यवाद देने लगा, तो कहने लगे – "नहीं, यह सब मत कहिए – यह हम-जैसे संसारी लोगों का कर्तव्य है। थोड़ी-सी कर्तव्य-बुद्धि जाग उठने के कारण मैंने ही तो आपको बुलाया था। आप स्वेच्छा से तो आये नहीं थे। हम गृहस्थ हैं। कभी-कभी आप लोगों की सेवा करना अच्छा है, हमारा कर्तव्य है, समझे?" मैंने कहा – "जब मैं खाकर आपके औषधालय लौटा, तो इसी रास्ते से दो साधु जा रहे थे, आपने भी उन्हें देखा, पर उनको तो आपने नहीं बुलाया और मुझे देखकर पूछा कि मैं बंगाली हूँ क्या? इसका क्या कारण है? यदि कोई आपत्ति न हो तो बताइये।" डॉक्टर बाबू ने कहा – "आपको देखते ही लगा कि आप बंगाली हैं और बुलाने की इच्छा हुई, इसीलिए बुला लिया। उसके बाद आपको बंगाली जानकर मन में एक आत्मीयता का भाव जाग्रत हुआ। इसका कारण शायद यह हो कि मैं परदेश में पड़ा हूँ और फिर आप संन्यासी हैं, सब समझते हैं, और कोई कारण नहीं है।"

मेरठ के अनुभव

मेरठ काफी बड़ा और पुराना नगर है। यद्यपि कलकत्ता (एन्टाली) के श्रद्धेय श्री (देवेन्द्रनाथ) मजूमदार महाशय के शिष्य लोग वहाँ भी एक अर्चनालय स्थापित करके चला रहे थे और सर्वजन-परिचित डॉक्टर त्रैलोक्यनाथ घोष का मकान रामकृष्ण संघ के साधुओं के लिए आश्रय-स्थान था, तथापि किसी के साथ भेंट करने की मुझे इच्छा नहीं हुई। किसी मन्दिर में आसन लगाकर दो-चार दिन विश्राम लूँगा – यह सोचकर मैं शहर की ओर चला। पहनने के लिए केवल एक वस्त्र और (आसन के लिए) एक साधारण-सा कम्बल मेरे पास था। इसके अलावा और कोई वस्त्र साथ न रखता था। बाल और दाढ़ी भी बहुत बड़े-बड़े हो गये थे, इसलिए लोगों द्वारा मुझे खड़िया पलटन का एक सदस्य समझना कोई अस्वाभाविक नहीं था। बाजार के रास्ते से जा रहा था, तो एक साधु बगल की एक दुकान से निकलकर जल्दी से मेरे सामने आये और पूछने लगे कि मैं कहाँ से आ रहा हूँ? आदि आदि। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि मुझे रहने का स्थान नहीं मिला है, तो मुझे म्युनिसिपल दफ्तर के पीछे के द्वार के बाहर स्थित अपने आश्रम में ले गये। वहाँ उनके गुरु (योगी नारायणतीर्थ) और वे स्वयं (स्वामी आत्मानन्द) निवास करते थे। ये योगीराज बहुत अच्छे साधु थे और राजयोग में कुशल थे, परन्तु उनके बिल्कुल बहरे होने के कारण उनके साथ कोई भी चर्चा करना कठिन था। अंग्रेजी और हिन्दी अच्छी बोल लेते थे, परन्तु ठीक से लिख नहीं पाते थे। उनका शरीर दक्षिण का था और आत्मानन्द जी पहले आर्यसमाज के वैतनिक प्रचारक थे तथा इन योगीराज के सान्निध्य में आकर आर्यसमाज़ के कुछ सिद्धान्तों में उनकी श्रद्धा घट गई। अत: वे अपना कर्म त्यागकर योगीराज के साथ रहने लगे। आत्मानन्दजी बड़े मधुरभाषी तथा सेवा-परायण स्वभाव के व्यक्ति थे। मेरा आसन लगवाकर भिक्षा के लिए एक वकील साहब के घर ले गये। विभिन्न प्रकार की सच्चर्चाएँ करते हुए इसी प्रकार दस-बारह दिन उनके साथ रहा। बाद में उन्होंने वृन्दावन जाने का भाड़ा जुटा दिया और मैं रेलगाड़ी से वृन्दावन पहुँचा।

मेरठ के और भी दो-एक अनुभव यहीं पर लिपिबद्ध कर लेना चाहूँगा। एक दिन आत्मानन्द जी भिक्षा के लिए मुझे एक मकान में ले गये। दरबान से कहा – "जा बाबू से कह कि दो साधु उनसे मुलाकात करना चाहते हैं।" नौकर ने जरा भी ध्यान नहीं दिया और बैठा-बैठा तम्बाकू पीता रहा। इसके बाद उन्होंने कहा – "जा, बाबू से कह दे – दो जेंटिलमैन साधु मुलाकात करने आये हैं।" उन्होंने ज्योंही जोर की आवाज में जेंटिलमैन साधु कहा, त्योंही नौकर झटपट बाबू को खबर देने को गया। मैं अपनी हँसी नहीं रोक सका, बोला – "साधु और उसके साथ ही जेंटिलमैन कैसे?" उन्होंने कहा – "उस शब्द से ही तो यह मूर्ख उठा और इसी से वह बाबू को भी बुला लायेगा। यह मेरठ है, यहाँ मीठी और नरम आवाज से काम नहीं होता। यदि ऐसे ही धमकी देकर न माँगे, तो खाना तक नहीं मिलेगा। और एक बात है

कि यहाँ भिक्षा के लिए एक दिन पहले ही कह देना पड़ता है, तब ये तैयार रहते हैं। मैं कल कह नहीं सका, इसीलिए ऐसा करना पड़ा।" मैं बोला – "बहुत खूब ! पहले से कह आयेंगे कि महाशय, कल आपके यहाँ मेरा निमंत्रण रहेगा।" बाबू आकर बड़े आदर के साथ अन्दर ले गये। भिक्षा करवाने के बाद उन्होंने अनुरोध किया – "मैं उपस्थित रहूँ या न रहूँ, आपको जिस दिन भी इच्छा हो, आकर भिक्षा कर जाना।"

एक अन्य दिन वे मुझे भिक्षा हेतु एक बंगाली होम्योपैथ के मकान में ले गये। उनके साथ बातें कर रहे थे, तभी एक बलिष्ठ और ठिगने बंगाली सज्जन आये। वे अपनी बीमार पुत्री के लिए दवा लेने आये थे। डॉक्टर बाबू उन्हें दवा देने उठे और वे सज्जन मुझसे नाना प्रकार के प्रश्न करने लगे। प्रश्नों के ढंग से लगा मानो वे पुलिस के आदमी हैं। मैं भी उसी ढंग के उत्तर देता रहा। डॉक्टर बाबू के दवा लेकर आते ही ये सज्जन बोल उठे – "देखिये महाशय, इत्ता-सा लड़का और घर-बार छोड़कर साधु बनकर भाग आया है। आपके पास और मेरे पास भिक्षा माँगता फिरता है। देखिये तो, देश की कैसी दुर्दशा हो रही है ! भद्रजनों का पढ़ा-लिखा लड़का जब मकान के बाहर आकर 'भिक्षां देहि' कहकर खड़ा हो जायेगा, तो बताइये भला कैसे मना किया जा सकेगा? हम लोग इस दूर देश में नौकरी करके किसी तरह अपना पेट भर रहे हैं। और ऊपर से इस तरह के लोग आ पहुँचते हैं। कभी-कभी तो ये लोग इतने फटे कपड़े पहने आते हैं कि अपने शरीर का कोट या कोई अन्य वस्त्र ही उतार कर दे देना पड़ता है। देखिये, इन लोगों की कैसी दुर्बुद्धि है !"

मैंने कहा – "महाशय, माफ कीजियेगा, मुझे तो विश्वास नहीं होता कि आपने कभी अपने शरीर से कोट या पहना हुआ कोई अन्य वस्त्र उतार कर दिया होगा। हो सकता है कभी किसी को थोड़ा-सा खिला दिया हो, परन्तु वह भी आप नित्य नहीं करते होंगे।"

सज्जन – "देखिये महाशय, सुनिये, भिक्षुक का अहंकार देखिए। मेरा मकान होता तो ......।"

डॉक्टर बाबू – "जाने दीजिए महाराज, ये सब बातें छोड़िये। देरी हो रही है, आपका दफ्तर है और मुझे भी अभी बाहर निकलना है।" (हम लोगों के प्रति) "उस टब में पानी है, आप लोग हाथ-पाँव धो लीजिये।"

हम हाथ-पाँव धोने गये और वे सज्जन चले गये। बाद में पता चला कि वे वहाँ सी. आई. डी. के सब-इंस्पेक्टर थे और अपने दान की जो डींगें हाँक रहे थे, वह सब झूठ था।

वृन्दावन का सेवाश्रम

उन दिनों वृन्दावन के श्रीरामकृष्ण सेवाश्रम के संचालक डॉक्टर महाराज या स्वामी पूर्णानन्द और बूढ़ो बाबा या स्वामी श्रीधरानन्द थे। स्थायी अधिकारी नादू महाराज किसी कार्यवश कोलकाता गये हुए थे। डॉक्टर महाराज के साथ पहले से थोड़ा परिचय था और बूढ़ो बाबा से केवल पहचान भर थी।

डॉक्टर महाराज ने मेरा स्वागत किया और हम दोनों एक ही कमरे में रहते थे। उनके बातचीत का ढंग बड़ा ही मधुर तथा मनोरंजक था। उन दिनों वे पाण्डु-ज्वर से पीड़ित थे। उनका शरीर भी बड़ा दुर्बल हो गया था और सेवाश्रम के कार्य में सहायता के लिए उन्हें एक व्यक्ति की आवश्यकता थी। मुझे भी वही पीला बुखार होने लगा, परन्तु जिस दिन उन्हें बुखार होता था, उस दिन मैं ठीक रहता था और होम्योपैथी की जानकारी होने के कारण दवा आदि लिख देता। दवा बाँटने को एक कम्पाउंडर था और 'चटर्जी बाबू' नामक एक युवक (गोविन्ददेव जी के मुख्य पुजारी का निकट सम्बन्धी) प्रतिदिन दोनों समय स्वेच्छापूर्वक आकर एलोपैथिक विभाग तथा उसके संलग्न ऑपरेशन विभाग के सारे कार्य सेवा-भाव से करते थे। पहले किसी डॉक्टर के अधीन रहकर इन्होंने यह कार्य सीखा था। बूढ़े बाबा मैनेजर थे। हम दोनों को ठीक होने में करीब एक महीना लगा।

इस दौरान मैं स्वतंत्र भाव से रहकर साधन-भजन करने की चेष्टा में था। कालीय-दमन घाट के पास एक मन्दिर में स्थान मिला। वहाँ कोई रहता नहीं था, केवल सुबह के समय दो-चार पण्डे कुश्ती लड़ने आते और पुजारी पूजा कर चला जाता। सन्ध्या होने के काफी पहले ही पुजारी भाँग घोटकर खा लेते और दिया-बत्ती जलाकर भाग जाते। इन दो-तीन घण्टों को छोड़ बाकी सारे समय वहाँ मेरा ही राज्य था। 'मारुति' तथा 'नये' कालीय-दमन मन्दिर की वृन्दावन में कोई ख्याति न रहने और 'मान' न होने के कारण यात्री लोग भूलकर भी उधर नहीं आते थे। वही पर 'आसन' जमाया।

(क्रमशः)

– चौथी जुलाई के प्रति –

स्वामी विवेकानन्द कृत

(१८९८ ई. में ११ जून को स्वामीजी अपनी अमेरिकी शिष्या श्रीमती ओली बुल के अतिथि के रूप में अपने कुछ पाश्चात्य शिष्याओं के साथ काश्मीर तथा अमरनाथ की यात्रा पर गये। इसी दौरान अमेरिका का स्वाधीनता-दिवस ४ जुलाई का दिन आ पहुँचा। उस दिन स्वामीजी ने बिना किसी को पूर्व-सूचना दिये सहसा एक छोटे-से समारोह का आयोजन करके अपने अमेरिकी मित्रों को विस्मय-विमुग्ध कर दिया था। उन्होने एक ब्राह्मण दर्जी से एक अमेरिकी ध्वज सिलवा रखा था और उस अवसर के लिए एक कविता भी लिख रखी थी। इसी यात्रा के दौरान अमरनाथ शिव ने उन्हें इच्छा-मृत्यु का वर दिया था। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि चार वर्षों बाद अमेरिकी स्वाधीनता के वर्षगाँठ का दिवस ही उनका भी निर्वाण-दिवस सिद्ध हुआ। इस कविता का हिन्दी रूपान्तर स्वामी विदेहात्मानन्द ने किया है। – सं.)

मेघ काले छँट रहे हैं देख लो,
ढँक रहे जो रात में आकाश को,
और धरती पर तनी थी उस समय,
घोर छाया ले उदासी शोकमय,
किन्तु जादू-सा तुम्हारा स्पर्श है,
जागता है विश्व अब पाकर उसे।

ओसकण मोती सितारे ताज के,
जिन्हें पहने पुष्प हैं सब खिल रहे,
और स्वागत में तुम्हारे हिल रहे,
हैं लगी चिड़ियाँ सभी सहगान में,

खोलते निज उर-सरोवर प्रेम से,
शत-सहस्रों कमलनेत्र उघाड़ते,
कर रहे स्वागत तुम्हारा वे सभी,
भावसह गहराइयों से प्राण के।

ज्योति के हे देवता ! जय हो तुम्हें,
आज नव-स्वागत तुम्हारा हो रहा,
आज दिनकर भी उदय होकर महा,
मुक्ति का आलोक है फैला रहा,
तुम्हीं सोचो विश्व ने कितना किया,

शोध तेरा देश में औ' काल में,
गेह छोड़ा और सुहृदों का लगाव,
हुए निर्वासित तुम्हारी चाह में,
उफनते सागर घने वनप्रान्त में,
हर कदम जीवन लगा था दाँव पर।

तब समय आया हुआ सब श्रम सफल,
और पूजा-प्रेम तव बलिदान भी,
मिल गयी सब पूर्णता-स्वाधीनता,
और जीवन की नयी आशा जगी,
ज्योति शुभ स्वाधीनता की तुम लिये,
उठ गये दुनिया को देने के लिए।

देव ! अब चल दो स्वपथ निर्बाध पर,
फैल जाये रौशनी मध्याह्न की,
और जग के देश सब आलोकमय,
हो न जायें तब तलक चलते रहो,

विश्व के नारी-पुरुष मस्तक उठा,
देख लें बन्धन सभी टूटे हुए,
और हृदि के उफनते उल्लास में,
बोध कर लें स्वयं का जीवन नया।

गरब गोपालहिं भावत नाहीं

जियाउर रहमान जाफरी

अहंकार, गर्व, अभिमान, दम्भ – ये मनुष्य के ऐसे मनोभाव हैं, जिनकी प्रवृत्ति अन्ततः मनुष्य को विनाश की ओर ले जाती है। इस जगत् का कोई व्यक्ति अहंकार पाल कर महान् नहीं हुआ, क्योंकि अहंकार ईश्वर को पसन्द नहीं। कहा भी है – 'गरब गोपालहिं भावत नाहीं'। इसी अहंकार ने महाभारत के युद्ध में कौरवों को परास्त किया। पाँच पाण्डवों के सामने सौ कौरव बौने साबित हुए। किन्तु युद्धोपरान्त अर्जुन के मन में अंहकार पैदा हुआ। भगवान श्रीकृष्ण को यह भाँपते देर न लगी। उन्होंने अर्जुन से गोपिकाओं को द्वारिका पुरी पहुँचाने को कहा। रास्ते में भीलों ने गोपिकाओं को लूट लिया। अर्जुन देखते रह गए और उनका अजेय होने का सारा अभिमान टूट कर रह गया।

हमारे पुराण आदि प्राचीन साहित्य और समृद्ध लोक-कथाओं में ऐसे प्रसंगों की कमी नहीं है, जहाँ अभिमान के वशीभूत होना व्यक्ति की अधोगति का कारण बना। हमें जान लेना चाहिए कि दुनिया में हमसे भी बड़े धनी, विद्वान्, शक्ति -सम्पन्न लोग मौजूद हैं, अतः अभिमान क्यों करना? और यदि हम सब कुछ से सम्पन्न हैं, तो क्या अभिमान ही हमारे लिए शेष रह जाता है? गर्व मनुष्यगत प्रवृत्ति नहीं, पशुगत आचरण है। संसार में ईश्वर से बड़ा कौन है? क्या उसमें दम्भ है? चन्द्रमा, सूर्य, तारे, पृथ्वी, आकाश, नक्षत्र, ग्रह – ये सारे संसार को आलोकित और क्रियान्वित करते हैं। पवित्र ग्रन्थ हदीस में कहा गया है कि जहाँ हम (अहम्) दाखिल होता है, वहीं से शैतान प्रवेश कर जाता है। पर होता यह है कि हम किसी बड़े पद पर आ गए कि हममें घमण्ड कूट-कूटकर भर गया। किसी भी शक्ति या उपलब्धि के प्राप्त होने पर अहंकार छलकने लगे तो इसका अर्थ यह होता है कि हमारी क्षमता उस सफलता को अपने अन्दर समाहित करने की नहीं है। भागवत के प्रसिद्ध रास-प्रसंग में श्रीकृष्ण अन्य गोपिकाओं को छोड़कर राधा के साथ अंतर्धान हो गए। राधा को अन्य गोपिकाओं से स्वयं को श्रेष्ठ होने का अभिमान पैदा हो गया। तब उसका अन्त क्या हुआ? हम सभी जानते हैं कि भगवान उन्हें वहीं छोड़कर वापस लौट आए।

असल में अहंकार उस शैतान की तरह है, जो हर व्यक्ति में अपनी उपस्थिति दर्ज करने की चेष्टा करता है और जैसे ही मौका मिलता है, उसमें प्रवेश कर जाता है, फिर उसमें स्वयं को सबसे श्रेष्ठ होने का बोध पैदा होता जाता है और वह दूसरों को तुच्छ समझने लगता है। बाद में यही अहम्मन्यता मनुष्य के विनाश का कारण बनती है। अतीत में रावण और आधुनिक युग में हिटलर इसके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। ऊँट तथा मेढक की मशहूर कहानी का निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति का गर्व जाता है, पर उसके पतन के बाद। इसलिए अहंकार की तुलना नशे से की गई है, जिसकी खुमार में मनुष्य किसी को कुछ नहीं समझता। वह उसके चिन्तन, विवेक, समझ और मनुष्यत्व पर हमला बोल देता है। इसी अहंकार के नशे के वशीभूत नारद मुनि वानर-आकृति को प्राप्त हुए और अजेय सेनापति नेपोलियन कारागार को प्राप्त हुआ।

ज्ञान की सार्थकता इसी में निहित है, कि हम तदनुरूप आचरण भी करें, तब हममें जितनी अधिक सामर्थ्य है, हमारे विचार उतने ही उत्तम, भाषा उतनी ही मृदु, व्यवहार उतना ही कुशल और क्रिया उतनी ही समाजोपयोगी होनी चाहिए। ऐसा नहीं है तो सर्वप्रथम हम मनुष्य कहलाने के अधिकारी ही नहीं हैं। एक बार किसी ने रावण से पूछा — 'तुमने किसी दूसरे की पत्नी का हरण क्यों किया? दूसरे की स्त्री का इस प्रकार अपहरण करना तो अधर्म है।' रावण ने हँसते हुए कहा कि यह अधर्म नहीं है, धर्म है। मैं धर्म का ही पालन कर रहा हूँ; अपने राक्षस धर्म का। संस्कृत के एक नीति श्लोक का अर्थ है — "दुर्जन विद्वान् हो, तो भी उसे त्याग देना चाहिए। मणि से भूषित सर्प क्या भयंकर नहीं होता?" ज्ञान प्राप्त कर हम समाज और राष्ट्र के लिए एक आदर्श बनते हैं। क्या इस पृथ्वी पर कृष्ण, राम, बुद्ध, मुहम्मद, ईसा से बढ़कर कोई हुआ। उनके पास किस चीज का अभाव था, लेकिन क्या अभिमान की परछाँई भी उन्हें छू पाई, और यदि स्पर्श कर पाती तो शायद इस रूप में आज वे पूजनीय अथवा अनुकरणीय नहीं होते। श्रेष्ठता वस्तुतः प्रदर्शन की वस्तु नही है वह आत्मसात करने का रसायन है, जो हमारे आचरण में मृदुता का संचार कर देती है। प्ल्यूटस का यह कथन द्रष्टव्य है कि – "कोई भी व्यक्ति दूसरों से सम्मान न पाएगा, जिससे स्वयं उसके अपने लोग घृणा करते हों।"

अहंकार से रहित व्यक्ति स्वयं के सामने किसी को तुच्छ नहीं समझता। वह तो सन्तों की तरह कह दिया करता है – 'जो दिल खोजा आपना मुझसे बुरा न कोय' ऐसे व्यक्ति मर कर भी अमर हो जाते हैं। इतिहास अपने पृष्ठों पर स्वर्णाक्षर में हमेशा-हमेशा के लिए उसका नाम अंकित कर लेता है। वह अपने प्रत्येक कार्य को सर्वव्यापी परम प्रभु की सेवा के

(शेष अगले पृष्ठ पर)

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(अनेक वर्षों पूर्व विद्वान् लेखक ने 'विवेक-ज्योति' के लिए प्रेरक-प्रसंगों की एक शृंखला लिखी थी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित होकर बड़ी लोकप्रिय हुई। अनेक वर्षों के अन्तराल के बाद उन्होंने अब उसी परम्परा में और भी प्रसंगों का लेखन प्रारम्भ किया है। – सं.)

(१९) मृत्यु अपरिहार्य और वरदान भी है

सिकन्दर ने जब भारत पर आक्रमण करने का निर्णय लिया, तो यूनान के कुछ अमीर-उमरावों ने उसे बताया कि हिमालय पहाड़ पर एक जगह अमृत का एक सोता बहता है, जिसका जल पीने से व्यक्ति अमर हो जाता है। विश्व-विजयी होने की लालसा रखनेवाले सिकन्दर के लिए यह बात बड़ी महत्त्वपूर्ण थी। उसने सोचा कि पूरे विश्व का स्वामी बनने के बाद अमर होकर उसके सारे मनोरथ पूरे हो जायेंगे।

भारत की सीमा में प्रवेश करने के बाद सिकन्दर ने कई लोगों से उस अद्भुत सोते के बारे में पूछा, मगर उनमें से किसी को भी उसकी जानकारी नहीं थी। सहसा उसकी भेंट एक बुजुर्ग पीर से हुई और उसने बताया कि वह सही रास्ते पर आया है। यहाँ से दो कोस आगे बढ़ने पर ही वह सोता दिखाई देगा, जिसके जल के सेवन से वह अमरत्व प्राप्त कर सकता है। सिकन्दर ने सोचा कि यदि वह अपने साथ अपने सैनिकों को ले जाएगा, तो वे भी उस सोते का जल पीकर अमर हो जायेंगे, इसलिए वह सैनिकों को छोड़ अकेला ही आगे बढ़ा और जब उसे वह सोता दिखाई दिया, तो उसे देखकर सिकन्दर की खुशी का पारावार न रहा।

सिकन्दर ने ज्योंही अपनी अंजली में सोते का पानी भरा, त्योंही उसे 'ठहर जा' की ध्वनि सुनाई दी। जिस ओर से वह आवाज आई थी, उसने उसी ओर देखा, तो उसे एक थका-माँदा बूढ़ा कौवा दिखाई दिया। कौए द्वारा उसे पानी पीने से मना करने का कारण पूछने पर उसने बताया – "आज से चार सौ साल पहले मैंने अमर होने के लिए इस सोते का पानी पिया था। लेकिन वह मेरी भूल थी। अब न तो मैं सुख से जी सकता हूँ और न ही मर सकता हूँ। मेरे सारे अंग इतने शिथिल हो गये है कि कुछ भी करने के लिए स्वयं को असमर्थ पाता हूँ और एक तू है, जो आगे की बिना सोचे-समझे मेरे समान ही स्वयं को निस्सहाय बनने के रास्ते की ओर बढ़ रहा है। मैं चाहता हूँ कि पानी पीने से पहले तू अपने भविष्य की सोच और फिर कोई निर्णय ले।"

सिकन्दर ने जब गम्भीरतापूर्वक विचार किया, तो अपने बुढ़ापे का स्वरूप उसकी आँखों के सामने झलक उठा। इससे वह इतना घबरा गया कि उसका सारा शरीर पसीने से तर-बतर हो गया। उसने महसूस किया कि मृत्यु वरदान है और जीवन अभिशाप। मृत्यु अवश्यभावी है और उसी में जीवन की सार्थकता है। बेबस और असहनीय जिन्दगी जीने की अपेक्षा मरना ही बेहतर है। उसने कौए को धन्यवाद दिया और वहाँ से वह चुपचाप लौट गया।

(२०) धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय

एक बार गौतम मुनि किसी कारण से पत्नी अहिल्या पर इतने नाराज हो गये कि उन्होंने पुत्र चिरकारी को अपनी माता का वध करने का आदेश दिया और फिर वन की ओर चले गये। चिरकारी माँ-बाप का आज्ञाकारी और साथ ही मेधावी तथा विवेकवान भी था। उसने सोचा – माँ की किसी बात

पिछले पृष्ठ का शेषांश

भाव से करता है। उनमें **सर्वे सन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः** – 'सभी लोग सुखी तथा स्वस्थ रहें' – भावना मौजूद रहती है। उनमें धर्म, जाति, क्षेत्र, भाषा रूपी अहंकार का समावेश नहीं होता। वे मनुष्य को मनुष्य-रूप में देखते हैं, उसके मिथ्या, मानव-निर्मित खण्डित रूपों में नहीं। हमारे धर्मग्रन्थों में मौजूद पुनर्जन्म का सिद्धान्त बताता है कि हम इस जन्म में जैसा कार्य करते हैं उसी के अनुरूप हमारा पुनर्जन्म भी होता है। एक पौराणिक कथा के अनुसार इन्द्र को जब अपने देवत्व पर गर्व हो गया तब ब्रह्मा वेश बदलकर उनके पास पहुँचे। कुछ समय उपरान्त कुछ चीटियाँ भी वहाँ आ गईं। यह देखकर ब्रह्मा को हँसी आ गई, इन्द्र ने उनकी हँसी का कारण पूछा। बहुरूपी ब्रह्मा बोले – "हँसता इसलिए हूँ कि यहाँ जो चीटियाँ दिखलाई पड़ रही हैं वे सब कभी पहले इन्द्र रह चुकी हैं किन्तु कर्मानुसार उन्हें अब चींटी की योनि प्राप्त हुई है।"

अस्तु, हम कवीन्द्र रवीन्द्र और रस्किन के संयुक्त शब्दों में कह सकते हैं कि हाथी-घोड़े आदि को दाना, घास आदि की आवश्यकता पड़ती है, पर अहंकार को पनपने के लिए किसी प्रकार की भोजन की बाह्य सहायता की जरूरत नहीं होती। हमारी समस्त गलतियों की जड़ में अहंकार होता है, क्योंकि अहंकारी जब भी किसी काम में हाथ लगा देता है, तो वह गलत हो जाता है। **('योजना' से साभार)**

पर पिताजी रुष्ट हो गये होंगे और उन्होंने क्रोधावेश में माँ का वध करने का आदेश दिया होगा। पिता की आज्ञा का पालन करना हर पुत्र का धर्म है, परन्तु स्त्री भी तो अवध्य होती है, और यह जन्मदात्री माता भी है। पुत्र द्वारा माता का वध भी तो अधर्म है। माता अहिल्या इतनी दोषी तो नहीं होंगी कि उन्हें प्राणदंड दिया जाए। उन्होंने पिता के आदेश को नजरअंदाज किया और इस अवज्ञा के लिए दण्ड भोगने को स्वयं को तैयार कर लिया।

उधर वन में जब गौतम मुनि कुछ शान्त हुए, तो उन्हें पुत्र को माँ का वध करने का आदेश देने पर पश्चाताप हुआ। वे तुरन्त आश्रम में वापस लौटे। उन्होंने जब पत्नी को गृह-कार्य में लीन पाया, तो बड़े प्रसन्न हुए। फिर पुत्र से बोले – "बेटा, मैंने आवेश में तुम्हें माता का वध करने का आदेश दिया था। वैसे इसका कोई बड़ा अपराध नहीं था।" पुत्र के लिए पिता की आज्ञा का पालन जितना आवश्यक है, उतना ही हितैषी का वध करने के पूर्व शान्त चित्त से यह सोचना भी आवश्यक है कि क्या उसका अपराध इतना बड़ा है कि वध ही उचित दण्ड होगा। मनुष्य द्वारा क्रोध और अभिमान के वशीभूत होकर ही वध का आदेश दिया जाता है। यह आदेश अनिष्टकारी, अप्रिय और अधर्म-सम्मत था, अतः उसे विलम्ब से और विचारपूर्वक धीरे-धीरे करना ही उचित था। ऐसे आदेश के पालन में जल्दबाजी नहीं की जानी चाहिए।

(२१) अन्त समय पछताएगा

महमूद गजनवी बड़ा ही क्रूर और निर्दयी था। एक बार उसे पता चला कि पास के जंगल में एक सूफी फकीर आये हैं। वह अपने एक सिपाही से बोला – "जाओ, उससे कह आओ कि मैंने उसे बुलाया है।" सिपाही द्वारा वह सन्देश दिये जाने पर फकीर बोला, "तुम्हें भेजनेवाला तुम्हारा मालिक होगा, मेरा नहीं। मैं उसकी खिदमत नहीं कर सकता। मुझे तुम्हारे बादशाह से कुछ भी लेना नहीं है। जिसे किसी से कुछ लेना होता है, वही उसे पाने के लिए खुद जाता है।"

महमूद के पास लौटकर सिपाही ने फकीर के शब्द ज्यों-के-त्यों सुना दिये। उसे क्रोध तो बहुत आया, पर उसे फकीर जानकर वह खामोश रहा और खुद ही उसके पास गया। उसने फकीर से कहा, "सुना है कि आपने नींद पर काबू पा ली है। मैं भी आपसे वह इल्म सीखना चाहता हूँ।"

"मगर आप इस इल्म को सीख कर क्या करेंगे।" – फकीर के यह पूछने पर महमूद ने जवाब दिया, "मैं रात-दिन जागकर एक-पर-एक मुल्क फतह करता रहूँगा और वहाँ की कीमती चीजें अपने खजाने में जमा करता रहूँगा।"

फकीर बोला – "यानी तुम कत्ले-आम करके अपनी सल्तनत बढ़ाना चाहते हो? मैं तुम्हें हरगिज यह इल्म नहीं सिखा सकता।" फकीर के इस स्पष्ट जवाब को सुनकर महमूद को गुस्सा आ गया। वह अपने म्यान से तलवार निकालकर बोला, "जानते हो कि तुम किससे बातें कर रहे हो और ऐसे जवाब का क्या हश्र होता है? मैं चाहूँ तो इसी वक्त तुम्हारी जबान खींच सकता हूँ।"

फकीर ने शान्त स्वर में जवाब दिया – "मुझे तुमसे ऐसी ही उम्मीद थी। मैं जानता था कि तुम मुझे कुछ देने नहीं, बल्कि लेने आये हो और लेनेवाला कभी समझदार नहीं होता। वह यह नहीं देखता कि उसका ओहदा क्या है। वह तो यही जानता है कि मनमानी करके कैसे अपनी मनचाही चीज हासिल करें। मगर वह यह नहीं समझता कि हासिल की हुई वह चीज उसका कब तक साथ देगी। तुम यही भूल कर रहे हो। तुम मुझे मारने की सोचकर और अपना खजाना बढ़ाने के लिए बेकसूर लोगों की जानें लेकर खुद को पाप की खाई में ढकेल रहे हो। आखिर एक दिन तुम्हें इन चीजों को छोड़कर खुदा के दरबार में जाना पड़ेगा, जहाँ तुम्हें अपने बुरे कर्मों के फल भोगने पड़ेंगे।" यह सुनते ही बादशाह पानी-पानी हो गया। उसने चुपचाप तलवार म्यान में डाली और खामोशी के साथ वहाँ से लौट गया।

(२२) माल मुलुक कछु संग न जैहें

एक बार भगवान बुद्ध अपने शिष्यों के साथ भ्रमण पर निकले। एक ग्राम में नदी दिखाई दी। शिष्यों को प्यास लगी हुई थी, इसलिए वे नदी के तट पर गये। पास ही कुछ बच्चे रेत के घर बना रहे थे। वहाँ एक बच्चे द्वारा घर बनाये जाने पर दूसरा बच्चा उसे तोड़ देता, तब बच्चा रुँआसा होकर पुनः नया घर बनाने में जुट जाता। यही बात हर बच्चे के साथ घटित हो रही थी। शिष्यों को इसे देखने में आनन्द आ रहा था। सहसा उन बच्चों की माताएँ वहाँ आईं और बोलीं – "बच्चो, सूर्य डूब रहा है और अँधेरा होनेवाला है, इसलिए फौरन घर चलो।" बच्चों ने सुना, तो उन्होंने स्वयं ही अपने बनाये रेत के उन घरों को तोड़ डाला और उछलते-कूदते हुए एक दूसरे के हाथ पकड़कर घर की ओर जाने लगे।

इस पर भगवान बुद्ध ने शिष्यों से कहा, "जिन बच्चों को अपना बनाया हुआ रेत का घर टूटा देखकर दुख और गुस्सा हो रहा था, उन्होंने जाते-जाते स्वयं ही अपने उन घरों को तोड़ डाला। तुम लोगों के साथ भी ऐसा ही होगा। तुम्हारा भी जीवन-सूर्य एक-न-एक दिन अस्त होगा, संध्या आएगी और अन्धेरा होने से पूर्व तुम्हें सब कुछ छोड़ने को मजबूर होना पड़ेगा। ऊपर से तुम्हें ज्योंही चलने का आदेश मिलेगा, त्यों ही तुम्हें चल देना पड़ेगा। तुम्हारी चीजें ज्यों-की-त्यों पड़ी रह जायेंगी। तुम तो उन्हें तोड़ भी न सकोगे, क्योंकि तुममें उन्हें तोड़ने का बोध तक नहीं रहेगा।❖(क्रमशः)❖
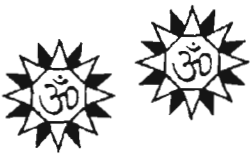
मेरी स्मृतियों में विवेकानन्द (३)

भगिनी क्रिस्टिन

(जो लोग महापुरुषों के काल में जन्म लेते हैं और उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आते हैं, वे धन्य और कृतकृत्य हो जाते हैं। भगिनी क्रिस्टिन भी एक ऐसी ही अमेरिकन महिला थीं। स्वामीजी-विषयक उनकी अविस्मरणीय स्मृतियाँ आंग्ल मासिक 'प्रबुद्ध-भारत' के १९३१ के जनवरी से दिसम्बर तक, फिर १९४५ के स्वर्ण-जयन्ती विशेषांक तथा १९७८ के मार्च अंकों में प्रकाशित हुई थीं। बाद में वे 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ में संकलित हुई, वही से इनका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। – सं.)

न्यूयार्क में कार्य

डिट्राएट से विदा लेने के बाद स्वामीजी इस आशा के साथ न्यूयार्क गये कि शायद अमेरिका की उस सांस्कृतिक राजधानी में उन्हें अपना भावी कार्य आरम्भ करने में कुछ सुविधा हो जाय।

शीघ्र ही वहाँ उनके इर्द-गिर्द धनी मित्रों की एक टोली एकत्र हो गयी, जिनका उनके प्रति लगाव तथा प्रशंसा का भाव था और जो उनके व्यक्तित्व से आकृष्ट हुए थे, परन्तु वे लोग उनके सन्देश को समझ नहीं सके थे। उन्हें आशंका हुई कि कहीं वे एक सामाजिक पिंजर में बद्ध सिंह तो नहीं हो रहे हैं ! उनके लिए अच्छे भोजन, वस्त्र तथा निवास की व्यवस्था हो रही थी। पर पुन: उनके अन्तर से आजादी की पुकार गूँज उठी – "नहीं, नहीं, मैं इन परिस्थितियों में अपना कार्य कदापि नहीं कर सकूँगा।"

तब उन्होंने सोचा कि शायद एकाकी रहते हुए सार्वजनिक कक्षाएँ लेने से कोई रास्ता निकल जाय। उन्होंने लैंड्सबर्ग से दोनों के लिए सस्ते कमरे ढूँढ़ने को कहा। (६४ वेस्ट ३३ वाँ रास्ते पर) उन्हें जो जगह मिली, वह बिल्कुल भी उपयुक्त मुहल्ले में न थी। और ऐसा संकेत मिला कि सही प्रकार के लोग, विशेषकर महिलाएँ ऐसे स्थान में नहीं आयेंगी, परन्तु वे आये – हर प्रकार के नर-नारी उन अनुपयुक्त कमरों में आये। वे कुर्सियों पर बैठे, और जब कुर्सियाँ भर गयीं, तो कहीं भी – मेजों पर, हाथ धोने के स्थान पर, सीढ़ियों पर भी बैठे। करोड़पति लोग भी सहर्ष फर्श पर और शब्दश: उनके चरणों में बैठे। इन कक्षाओं के लिए कोई शुल्क नहीं रखा गया था और बहुधा किराया चुकाने के लिए भी पैसे नहीं होते थे। तब स्वामीजी किसी अन्य विषय पर एक व्याख्यान देते और उसके लिए शुल्क स्वीकार करते। पूरे जाड़े के मौसम में उन्होंने यथाशक्ति कार्य किया। प्राय: ही अन्तिम पाई तक खर्च हो जाती। कार्य चलाने का यह एक बड़ा ही अविश्वसनीय तरीका था और कभी-कभी तो ऐसा लगता कि यह पूरी तौर से ही बन्द हो जायेगा।
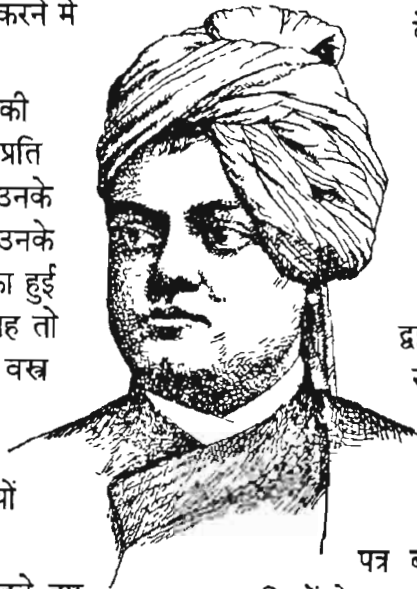
इन्हीं दिनों कुछ सम्पन्न लोगों ने इस योजना में सहायता देने का प्रस्ताव किया। परन्तु उन लोगों की कुछ शर्तें थीं। और वह यह कि 'सही स्थान' का चुनाव करना होगा और 'सही लोगों' को आकृष्ट करना होगा। परन्तु संन्यास के उन्मुक्त भाव को ये शर्तें असह्य थीं। क्या इसी के लिए उन्होंने संसार का त्याग किया है? क्या इसी के लिए उन्होंने नाम-यश को ठुकरा दिया है? थोड़ी-सी आर्थिक सुरक्षा का त्याग उनके लिए बड़ी छोटी बात थी। उन्होंने निश्चय किया कि अब से वे मानवीय सहायता पर निर्भर नहीं करेंगे। यदि उनके द्वारा काम होना है, तो उसके लिए रास्ते और संसाधन स्वयं ही आ जायेंगे। उन्होंने परम्परागत दृष्टिकोण तथा सांसारिक तरीकों के साथ समझौता करने से इनकार कर दिया।

इन्हीं दिनों लिखा हुआ उनका एक पत्र बड़ा ही भाव-व्यंजक है – "... 'उचित' व्यक्तियों के साथ वे मेरा परिचय करा देना चाहती हैं। अपने समग्र जीवन के अनुभव से मैं तो यही समझ पाया हूँ कि प्रभु जिनको मेरे पास भेजते हैं, वे ही 'उचित' व्यक्ति हैं। वे ही वास्तविक सहायता कर सकते हैं और उन्हीं से सहायता मिलेगी। और बाकी लोगों के बारे में मेरा वक्तव्य यह है कि प्रभु उन लोगों का तथा उनके साथियों का भला करें और उनसे मेरी रक्षा करें। ... हे प्रभु, तुम पर तथा तुम्हारी दया पर विश्वास रखना मानव के लिए कितना कठिन है !!! शिव ! शिव ! 'उचित' व्यक्ति कहाँ हैं और 'अनुचित' यानी असत् व्यक्ति ही कहाँ हैं? सबमें तो वे ही विद्यमान हैं। बाघ में भी वे ही हैं और मृग-शावक में भी वे ही हैं; पापी में तथा पुण्यात्मा में भी तो वे ही हैं – सब कुछ वे ही तो हैं !!! देह-मन-प्राण तथा आत्मा के सहित मैंने उन्हीं की शरण ली है – जीवन भर अपनी गोद में आश्रय देकर क्या वे अब मुझे त्याग देंगे? भगवान की कृपादृष्टि के बिना समुद्र में जल की एक बूँद भी नहीं रह सकती, घने जंगल में लकड़ी का एक टुकड़ा भी नहीं मिल सकता, कुबेर के भण्डार में अन्न का एक दाना तक मिलना सम्भव नहीं है और यदि उनकी इच्छा

हो, तो रेगिस्तान में भी स्वच्छ-सलिला नदी प्रवाहित हो सकती है और भिक्षुक को भी महान् ऐश्वर्य मिल जाता है। एक छोटी-सी चिड़िया उड़कर कहाँ गिरती है – यह भी उनसे छिपा नहीं है। माँ, क्या ये सब कहने मात्र के लिए ही हैं अथवा अक्षरश: सत्य घटनाएँ हैं?

"इन 'उचित' व्यक्तियों के साथ परिचयादि की बातें छोड़ दीजिए। हे मेरे शिव, तुम्हीं मेरे 'उचित' और तुम्हीं मेरे 'अनुचित' हो। प्रभो! बाल्यावस्था से ही मैंने तुम्हारी शरण ली है। चाहे मैं विषुवत-रेखीय उष्ण देश में चला जाऊँ या हिम-मण्डित मेरुप्रदेश में, चाहे पर्वतशिखर हो या अतल-स्पर्शी समुद्र, सर्वत्र ही तुम मेरे साथ रहोगे। तुम्हीं मेरी गति हो, मेरे नियन्ता हो, आश्रय हो; तुम्हीं मेरे सखा, गुरु, ईश्वर तथा यथार्थ स्वरूप हो। तुम मुझे कभी भी नहीं त्यागोगे – कभी नहीं; यह मैं निश्चित रूप से जानता हूँ। ... हे मेरे ईश्वर, इन सारी दुर्बलताओं से सदा के लिए मुझे मुक्त करो, ताकि तुम्हारे सिवाय और किसी से मुझे कभी भी सहायता के लिए प्रार्थना न करनी पड़े। यदि कोई व्यक्ति किसी भले आदमी पर विश्वास रखे, तो वह कभी भी उसे नहीं त्यागता या उसके साथ विश्वासघात नहीं करता। प्रभो, तुम तो सब प्रकार की भलाई के सृष्टिकर्ता हो – क्या तुम मुझे त्याग दोगे? तुम तो यह जानते ही हो कि मैं आजीवन तुम्हारा – केवल तुम्हारा ही दास हूँ। क्या तुम मुझे दूसरों के हाथों में छोड़ दोगे या पथभ्रष्ट हो जाने दोगे? मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि वे कभी भी मुझे नहीं त्यागेंगे।"

इसके बाद कुछ निष्ठावान छात्रों ने कार्य की आर्थिक जिम्मेदारी सँभाल ली और इसके बाद कोई कठिनाई नहीं हुई। उन्होंने पुन: लिखा – "दुनिया के इतिहास में धनी लोगों के द्वारा भी क्या कभी कोई महान् कार्य हुआ है? धन से नहीं, सर्वदा हृदय तथा मस्तिष्क से ही कार्य हुआ करता है।"

उस पूरे शीतकाल में कार्य चलता रहा और जब गर्मियों के प्रारम्भ में वह सत्र पूरा होने को आया, तो वह निष्ठावान टोली नहीं चाहती थी कि शिक्षण का कार्य बन्द हो। उनमें से एक छात्रा का सेंट लारेंस नदी के किनारे स्थित 'सहस्र-द्वीपोद्यान' में एक मकान था। और शिक्षक के सामने प्रस्ताव रखा गया कि वे सभी गर्मियों के दिन वहीं बितायें। वे उन लोगों की आन्तरिक निष्ठा से द्रवीभूत होकर राजी हुए। उन्होंने अपने एक मित्र को लिखा कि वे इन कक्षाओं के कच्चे माल से कुछ 'योगी' तैयार करना चाहते हैं। उन्हें लग रहा था कि अब सही अर्थों में उनका कार्य शुरू हो चुका है और सहस्र-द्वीपोद्यान में उनके पास एकत्र होनेवाले लोग ही उनके सच्चे शिष्य थे।

१८९५ ई. की मई में उन्होंने श्रीमती ओली बुल को लिखा – "इस सप्ताह मेरी अन्तिम कक्षा होगी। अगले शनिवार को मैं श्री लेगेट के साथ मेन जा रहा हूँ। वहाँ पर उनका एक सुन्दर झील तथा एक जंगल है। मैं वहाँ दो या तीन सप्ताह ठहरूँगा। वहाँ से मैं सहस्र-द्वीपोद्यान जाऊँगा। कनाडा के टोरंटो से भी मुझे वहाँ के धर्म-महा-सम्मेलन में १८ जुलाई को बोलने का निमंत्रण मिला है। मैं सहस्र-द्वीपोद्यान से वहाँ जाकर लौट आऊँगा।"

और ७ जून को वे लिखते हैं – "अन्ततः मैं यहाँ श्री लेगेट के साथ हूँ। यह मेरे देखे हुए सुन्दरतम स्थानों में से एक है। कल्पना करो – चारों ओर विशाल वनों से आच्छादित पर्वत-श्रेणियों के बीच में एक झील है – जहाँ हम लोगों के सिवाय और कोई भी नहीं है। कितना मनोरम, कितना शान्त और कितना विश्रान्ति-दायक है यह स्थान! आप सहज ही अनुमान लगा सकती हैं कि शहर के कोलाहल के बाद मुझे यहाँ पर कितना आनन्द मिल रहा होगा। यहाँ आकर मानो मुझे एक नवजीवन-सा मिला है। मैं अकेला जंगल में जाता हूँ, गीता-पाठ करता हूँ और पूर्णतया सुखी हूँ। करीब दस दिनों बाद मुझे यहाँ से विदा लेकर 'सहस्र-द्वीपोद्यान' जाना है। यहाँ कुछ दिन एकान्त में रहकर ध्यान करने का विचार है। इस तरह की कल्पना तक मन को उन्नीत कर देती है।"

जून के प्रारम्भ में तीन-चार लोग सहस्र-द्वीपोद्यान में उनके पास एकत्र हुए और शिक्षा का कार्य अविलम्ब आरम्भ हो गया। वे शनिवार, ६ जुलाई, १८९५ को वहाँ आये थे। अब तक जो लोग वहाँ आ पहुँचे थे, स्वामीजी ने उनमें से कुछ को सोमवार (८ जुलाई) के दिन दीक्षा देने का निश्चय कर रखा था। रविवार के दिन अपराह्न में उन्होंने हम लोगों से कहा, "मैं तुम दोनों को अभी तक भलीभाँति जानता नहीं, ताकि यह सुनिश्चित कर सकूँ कि तुम दीक्षा के उपयुक्त हो या नहीं।" इसके बाद उन्होंने थोड़े सलज्ज भाव से कहा, "मुझमें एक शक्ति है – मन को पढ़ने की शक्ति, जिसका मैं कदाचित् ही उपयोग करता हूँ। यदि स्वीकृति दो, तो मैं तुम्हारे मनों को पढ़ना चाहूँगा, क्योंकि कल मैं अन्य लोगों के साथ ही तुम दोनों को भी मंत्रदीक्षा देना चाहता हूँ।"

हमने सहर्ष सहमति दे दी। अपनी इस परीक्षा के फल से वे अवश्य सन्तुष्ट हुए होंगे, क्योंकि अगले दिन कुछ अन्य लोगों के साथ ही हमें भी मंत्र देकर उन्होंने अपना शिष्य बना लिया। बाद में यह पूछे जाने पर कि हमारे मन की परीक्षा के समय क्या देखा, उन्होंने हमें थोड़ा-सा कुछ बताया था।

उन्होंने देखा था कि हममें से एक का जीवन भारत के साथ अविच्छेद्य भाव से जुड़ जायेगा। उन्होंने हमारे बारे में महत्त्वपूर्ण तथा सामान्य अनेक घटनाओं की भविष्यवाणी की थी, जिनमें से लगभग सभी सत्य प्रमाणित हुई हैं। उन्होंने देखा था कि हम लोग उनके विश्वस्त होंगे और अपने आध्यात्मिक जीवन

में प्रगति करेंगे। उन्होंने जो कुछ भी देखा था, उसका यथावत् वर्णन किया, हर चित्र की व्याख्या नहीं की। एक व्यक्ति के बारे में उनके सम्मुख दृश्य-पर-दृश्य आते गये, जो दर्शाते थे कि उसे काफी भ्रमण करना होगा, सम्भवत: प्राच्य देशों में। उन्होंने इन सबका वर्णन किया – जिन घरों में हम रहेंगे, जिन लोगों के साथ हमारा सम्पर्क होगा और जो चीजें हमारे जीवन को प्रभावित करेंगी।

हमने उनसे इस शक्ति के बारे में पूछा। उन्होंने बताया कि इसे कोई भी प्राप्त कर सकता है। इसकी प्रक्रिया, कम-से-कम बताने में तो बड़ी आसान थी। इसमें सबसे पहले सभी ओर व्याप्त अनन्त नीले आकाश का चिन्तन करना पड़ता था। एकाग्रता के साथ इस आकाश पर चिन्तन करने से थोड़ी देर बाद उसमें चित्र उभरने लगेंगे। फिर इन चित्रों की व्याख्या करनी पड़ेगी। कभी-कभी तो चित्र दिखाई देते हैं, पर उनका तात्पर्य समझ में नहीं आता। उन्होंने देखा कि हममें से एक अभिन्न रूप से भारत से जुड़ेगी। हमारे जीवन की कुछ महत्त्वपूर्ण तथा सामान्य घटनाएँ भी पहले से ही बता दी गयीं और लगभग सभी सत्य सिद्ध हुईं। इस परीक्षण में व्यक्तित्व की विशेषता – उसका स्वभाव, उसकी क्षमता और उसका चरित्र प्रकट हो जाता था। इस परीक्षा में खरा उतरने के बाद अपने बारे में कोई हीन-भावना या आत्म-विश्वास का अभाव नहीं रह सकता था। प्रत्येक क्षणिक शंका के स्थान पर एक प्रशान्त आश्वासन आ जाता था। क्योंकि क्या इससे हमारे व्यक्तित्व पर उन अलौकिक व्यक्ति की स्वीकृति की मुहर नहीं लग गयी थी?

सहस्र-द्वीपोद्यान

सहस्र-द्वीपोद्यान पार्क उन हजार द्वीपों में सबसे बड़ा है और नौ मील लम्बा तथा एक या दो मील चौड़ा है। नदी के किनारे स्थित गाँव के पास स्टीमर ठहरते हैं। उन दिनों उस द्वीप का बाकी भाग करीब-करीब निर्जन ही था। हमें जिस मकान में जाने का निर्देश था, वह गाँव से एक मील दूर था। यह एक चट्टान पर बना था। क्या यह सांकेतिक संयोग था। सामने से यह दो मंजिल और पीछे से तीन मंजिल ऊँचा था। यह घने जंगलों से घिरा था। इसमें हम लोग निर्जन में भी थे और इसके बावजूद आवश्यकता की सारी चीजें उपलब्ध थीं। हम लोग एक-दूसरे से मिले बिना भी चारों दिशाओं में घूम सकते थे। कभी-कभी स्वामीजी केवल लैंड्सबर्ग को साथ लेकर टहलने जाते थे। फिर कभी वे हममें से किसी एक या दो को साथ चलने के लिए कहते। और यदा-कदा पूरा दल ही एक साथ घूमने निकल पड़ता। टहलते समय वे बातें करते, परन्तु कभी विवादास्पद प्रसंग नहीं उठाते। निर्जनता तथा वन्य परिवेश उनके मन में भारतीय वनों के उनके अनुभवों की याद ताजा कर देता और वे अपने परिव्राजक जीवन में भ्रमण के दौरान हुई आन्तरिक अनुभूतियों के बारे में भी हमें बताने लगते।

अपने इस निर्जनवास के दिनों में हमारी शायद ही किसी से भेंट होती, बस बीच-बीच में कोई इक्का-दुक्का व्यक्ति देखने में आ जाता। हमारे उद्देश्य की दृष्टि से वहाँ का परिवेश अनुकूल था। यह विश्वास करना कठिन था कि अमेरिका में ऐसा भी स्थान पाया जा सकता है। वहाँ कितने महान् विचारों को अभिव्यक्ति मिली थी! वहाँ कितने अद्भुत परिवेश की सृष्टि हुई थी! वहाँ कितनी शक्ति का विकास हुआ था! वहाँ पर आचार्यदेव अपनी कुछ सर्वोच्च आध्यात्मिक ऊँचाइयों पर पहुँचे थे। वहाँ उन्होंने हमारे समक्ष अपना हृदय तथा मन खोलकर रख दिया। वहाँ हमने विचारों को जन्म लेते और उन्हें पुष्पित होते देखा। हमने उन परिकल्पनाओं का विकास देखा, जो परवर्ती वर्षों में संस्थाओं में रूपायित हुईं। यह एक सौभाग्यमय अनुभव था, एक ऐसा अनुभव जिसके बारे में कुमारी वाल्डो ने बाद में कहा था – "ऐसा सौभाग्य पाने के लिए हमने भला किया ही क्या है?" और हम सभी को ऐसा ही अनुभव हो रहा था।

प्रारम्भ में ऐसा निर्धारित हुआ था कि वहाँ हम बिना किसी नौकर के एक समुदाय के रूप में रहेंगे, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति कार्यों का एक हिस्सा पूरा करने की जिम्मेदारी निभायेगा। परन्तु हममें प्राय: सभी गृहकार्य में अनभ्यस्त थे और इससे बड़ी असुविधा हुई। इसका फल बड़ा ही रोचक हुआ और कुछ काल बाद परिस्थिति भयावह हो उठी। हममें से किसी-किसी ने अभी हाल ही में 'ब्रूक फार्म' की कहानी पढ़ी थी, उन्हें अपनी आँखों के सामने उन्हीं घटनाओं की पुनरावृत्ति होती दिखाई दी। हमारी समझ में आ गया कि इमर्सन ने क्यों अतीन्द्रियवादियों के उस समुदाय में शामिल होने से इन्कार कर दिया था! अपनी मानसिक शान्ति के लिए उन्हें निश्चय ही बड़ी कीमत चुकानी पड़ रही थी।

हममें से कोई केवल तश्तरियाँ धोना ही जानता था। जिन्हें डबल-रोटियाँ काटने का काम मिला था, वे काम के समय हाय-तौबा मचातीं और रुआँसी हो जातीं। यह एक बड़ी विचित्र बात है कि इन छोटी-मोटी चीजों से ही चरित्र की परीक्षा होती है। सामान्य मेल-जोल के बावजूद आजीवन छिपी हुई दुर्बलताएँ, ऐसे सामुदायिक जीवन के एक दिन में ही प्रकट हो जाती हैं। यह एक बड़ी रोचक बात थी।

परन्तु स्वामीजी पर इसका प्रभाव कुछ अलग ही प्रकार का होता। यद्यपि उस टोली में केवल एक की ही आयु उनसे कम थी, परन्तु धीरता एवं स्थिरता में वे सभी के पिता या बल्कि माता के समतुल्य थे। जब तनाव चरम सीमा पर पहुँच जाता,

तो वे परम माधुर्य के साथ कहते, ''आज मैं तुम लोगों के लिए भोजन पकाऊँगा।'' और इस पर लैण्ड्सबर्ग के मुख से निकल पड़ता, ''भगवान ही बचाएँ!'' इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया कि न्यूयार्क में जब कभी स्वामीजी भोजन पकाते, तो वे (लैण्ड्सबर्ग) अपना सिर पीट लेते, क्योंकि इसके बाद ही उन्हें रसोईघर के सारे बर्तन धोने पड़ते थे।

एक साथ मिलकर गृहकर्म चलाने के कुछ तिक्त अनुभव हो जाने के बाद एक बाहरी सहायक की नियुक्ति की गयी और हममें से दो-एक विशेष कार्यक्षम लोगों ने कुछ विशेष उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिए। इसके बाद हम शान्तिपूर्वक रहे।

परन्तु दैनन्दिन कार्य समाप्त हो जाने के बाद जब हम लोग कक्षा के लिए एकत्र होते, तो सारा वातावरण बदला हुआ होता। तब उन दीवारों के बीच कोई भी चीज हमें विचलित नहीं कर पाती। ऐसा लगता मानो हम शरीर तथा शरीर-बोध को बाहर ही छोड़ आये हैं।

हम एक अर्ध-चन्द्राकार पंक्ति में बैठकर प्रतीक्षा करते। आज हमारे लिए अनन्त का कौन-सा द्वार खुलेगा! नेत्रों को कौन-से दिव्य दृश्य देखने को मिलेंगे! प्रतिक्षण नवीनता का रोमांच बना रहता था। अजाना लोक, दुखहीन स्थान का बोध हमारे लिए आशा तथा सौन्दर्य के नये वितान उन्मुक्त कर देता। तथापि उपलब्धि हर बार हमारी आशाओं से बढ़कर होती। स्वामीजी की उड़ानें हमें उनके साथ अकल्पित ऊँचाइयों तक ले जातीं। तब से अब तक हमें चाहे कोई अनुभूतियाँ हुई हों या न हुई हों, एक चीज हम कभी नहीं भूल सकते – हमने उस परम लोक को देख लिया था। हम भी उस शिखर पर पहुँचा दिये गये थे और तब से इस संसार के दुख-कष्ट कभी उतने सत्य प्रतीत नहीं हुए।

उन्होंने एक सुन्दर उद्यान की कहानी बतायी। एक व्यक्ति उसकी दीवार पर चढ़कर उस पार का दृश्य देखने गया था और वह उसे इतना मोहक लगा कि वह तत्काल उस पार कूद गया और कभी लौटकर नहीं आया। और उसके पीछे दूसरा गया, उसने भी ऐसा ही किया। फिर तीसरा भी गया। परन्तु हमें सौभाग्यवश एक ऐसे आचार्य मिल गये थे, जिन्होंने उस दीवार पर चढ़कर देखा था, और उस पार के दृश्य से मोहित भी हुए थे, परन्तु अपनी महान् करुणा से वशीभूत होकर वे इस पार बचे हुए लोगों को उस पार की बातें बताने और दीवार के उस पार जाने में उनकी सहायता करने को लौट आये थे।

सुबह से मध्य-रात्रि तक ऐसे ही चलता रहता। जब वे देखते कि हमारे मन पर उनका प्रभाव बड़ा गहरा हुआ है, तो वे मुस्कान के साथ कहते, ''तुम्हें नाग ने डँस लिया है, अब तुम लोग नहीं बच सकते!'' या कभी कहते, ''मैंने तुम्हें अपने जाल में फँसा लिया है, अब तुम कभी निकल नहीं सकते।''

हमारी मेजबान कुमारी डचर एक विवेकशील महिला थीं। वे भक्तिमती तथा मेथॉडिस्ट ईसाई सम्प्रदाय में निष्ठा रखती थीं। ग्रीष्मावकाश के दिनों में अपने यहाँ एकत्र हुई इस टोली के साथ वे कैसे जुड़ गयी थीं – यह बात उन लोगों के लिए एक पहेली ही रह जाती, जो स्वामीजी की 'सच्चे व्यक्तियों को आकृष्ट करने तथा उन पर अपनी पकड़ बनाये रखने' की क्षमता से परिचित न थे। परन्तु एक बार भी उन्हें देख या सुन लेने पर उनका अनुसरण करना अपरिहार्य हो जाता था।

क्या वे उन ईश्वर के अवतार नहीं थे, जो मनुष्य को तब तक आकृष्ट करता रहता है, जब तक कि वह पुन: अपने खोये हुए साम्राज्य को नहीं पा लेता? परन्तु जो लोग अब भी अपने धर्म की रूढ़िवादी तथा प्रचलित रीति-नीतियों के साथ बँधे हुए थे, उनके लिए मार्ग कठिन और बहुधा भयावह हो जाता था। डचर को लग रहा था कि उसके सारे आदर्श, सारे जीवन-मूल्य तथा धर्म-सम्बन्धी धारणाएँ चूर्ण-विचूर्ण हुई जा रही हैं। परन्तु वस्तुत: उनमें केवल आंशिक परिवर्तन ही हो रहा था। कभी-कभी वे दो-तीन दिनों तक कक्षा में नहीं आतीं। स्वामीजी कहते, ''देखो, यह साधारण बीमारी नहीं है। यह उसके मन में उठ रहे तूफान की दैहिक प्रतिक्रिया है। वह इसे सहन नहीं कर पाती।'' एक दिन कक्षा में स्वामीजी की किसी उक्ति पर डचर ने मृदु प्रतिवाद किया और इसी के फलस्वरूप उनकी सर्वाधिक तीक्ष्ण प्रतिक्रिया का उदय हुआ था। स्वामीजी ने कहा था, ''कर्तव्य का विचार ही दुख का वह मध्याह्न-सूर्य है, जो हमारी अन्तरात्मा को झुलसाता रहता है।'' उसने कहना शुरू किया, ''परन्तु क्या हमारा कर्तव्य नहीं है कि ...।'' मगर वह इसके आगे नहीं बढ़ सकी; क्योंकि मानवात्मा को शृंखला-बद्ध करने के विचार-मात्र के भी विरुद्ध विद्रोह करते हुए इन महान् मुक्तात्मा ने सारे बन्धन तोड़ डाले थे।

कुमारी डचर कई दिनों तक दिखाई नहीं दी। और शिक्षा की प्रक्रिया इसी प्रकार अबाध गति से चलती रही। यदि गुरुभक्ति यथेष्ट हो, तो यह उतना कठिन न था, क्योंकि तब शिष्य सर्प के समान पुरानी केंचुली को त्यागकर नवीन चर्म धारण कर लेता है। परन्तु जहाँ पुराने पूर्वाग्रह तथा रूढ़ियाँ हमारी श्रद्धा की अपेक्षा कहीं अधिक बलवान सिद्ध होती हैं, वहाँ यह प्रक्रिया बड़ी भयंकर तथा यहाँ तक की विध्वंशक अवस्था की भी सृष्टि कर देती है।

❖ (क्रमश:) ❖

माँ की पुण्य-स्मृति

(गतांक से आगे)

कुमुदबन्धु सेन

१८९७ ई. के अप्रैल में माँ कलकत्ते आकर कुछ दिन रहीं। उन्हें बागबाजार में गंगातट पर एक भाड़े के मकान में रखा गया। माँ की देखभाल करने के लिए स्वामी योगानन्द और दो अन्य लोग – दीन महाराज और ब्रह्मचारी कृष्णलाल भी वहाँ थे। ये दोनों हाट-बाजार आदि घर के काम करते थे। माँ जब कलकत्ते आयीं, उसी समय संयोगवश स्वामीजी भी अपने शिष्य खेतड़ी-नरेश अजितसिंह से मिलने दार्जिलिंग से कलकत्ते आये। माँ उस समय अपने गाँव जयरामबाटी में थीं। भारत लौटने के बाद कोलम्बो से कलकत्ता आते समय स्वामीजी बड़े थक गये थे। अखबारों को साक्षात्कार देना, सभाओं में मानपत्र ग्रहण करना और अनेक व्याख्यान देने में उन्हें घोर श्रम करना पड़ा था। अत: ठाकुर के जन्मोत्सव कुछ दिनों बाद ही वे कुछ गुरुभाइयों तथा युवा शिष्यों के साथ दार्जिलिंग चले गये थे।

खेतड़ी-नरेश और भी कई देशी राजाओं के साथ कलकत्ते आये थे। सभी लोग रानी विक्टोरिया के शासन की हीरक जयन्ती के उपलक्ष्य में आमंत्रित होकर लंदन जा रहे थे। महाराजा की हार्दिक इच्छा थी कि स्वामीजी भी उनके साथ चलें। उन्हें आशा थी कि समुद्र-यात्रा के दौरान बाध्य होकर विश्राम करने से स्वामीजी के स्वास्थ्य में सुधार होगा। इसी कारण उन्होंने स्वामीजी को कलकत्ते बुलाया था, ताकि यात्रा के पूर्व यथावश्यक डॉक्टरों से सलाह ली जा सके। तदनुसार स्वामीजी दार्जिलिग से कलकत्ता आये थे। सियालदह स्टेशन पर उतरते ही वहाँ पूरे मारवाड़ी समाज की ओर से उनका व्यापक तौर पर स्वागत किया गया और उन्हें मानपत्र प्रदान किया गया। महाराजा अजितसिंह के नेतृत्व में व्यवसायी समाज के गण्यमान्य लोग उनका अभिनन्दन करने को आगे बढ़े, क्योंकि इन व्यवसायियों में बहुत-से महाराजा के राज्य की प्रजा थे और स्वामीजी उनके सम्माननीय अतिथि और पूज्य गुरुदेव थे। स्वामीजी को सीधे महाराजा के निवास में ले जाया गया। अगले दिन शाम को स्वामीजी महाराजा के साथ दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर गये। वहाँ से लौटते समय वे लोग श्रीरामकृष्ण की सांध्य-आरती देखने के लिए आलम-बाजार मठ में उतरे। जाने के पूर्व दोनों ने प्रसाद ग्रहण किया। वचनामृत-कार मास्टर महाशय के साथ मुझे दोनों ही स्थानों पर उपस्थित रहने का सौभाग्य मिला था। अगले दिन शाम को दो युवा ब्रह्मचारी शिष्यों को साथ लिए स्वामीजी बागबाजार में माँ का दर्शन करने आये। उस समय मैं स्वामी योगानन्द के पास बैठकर धर्मचर्चा कर रहा था। स्वामीजी के आने की सूचना पाते ही योगानन्द जी ने जल्दी से जाकर उनका स्वागत किया। कुशल आदि पूछने के बाद स्वामीजी ने योगानन्द जी से पूछा – "माँ और उनकी संगीनियाँ सकुशल तो हैं?" योगानन्द जी बोले – "ठाकुर की कृपा से यहाँ सब कुशल है। पर दार्जिलिंग में तुम्हारा स्वास्थ्य कैसा था?" कुशल-मंगल पूछने के बाद स्वामीजी सीधे माँ के पास चले गये, हम लोग भी उनके पीछे-पीछे गये।

वह एक स्मरणीय ऐतिहासिक क्षण था। पश्चिम से विपुल यश-गौरव लेकर लौटे स्वामी विवेकानन्द के साथ माँ के इस भेंट के दृश्य को देखने का सौभाग्य जिन कुछ लोगों को मिला था, उस समय उनमें से प्रत्येक आनन्द-विह्वल हो उठा था। अन्य दिनों की भाँति आज भी माँ घूँघट में कमरे के द्वार के सामने खड़ी थीं। स्वामीजी ने साष्टांग प्रणाम किया। वह एक स्वर्गीय दृश्य था। विश्वविख्यात विवेकानन्द श्रद्धा-भक्ति के साथ अनुगत सन्तान के समान माँ के समक्ष साष्टांग प्रणत थे। सुदीर्घ सात वर्षों बाद स्वामीजी ने माँ को देखा। वे भी गम्भीर रूप से आलोड़ित, स्थिर और निर्वाक थीं – मानो समाधिमग्न हों। पूरा परिवेश अवर्णनीय महिमा और दिव्य आनन्द से परिपूर्ण हो उठा।

प्रणाम करते समय स्वामीजी ने माँ का चरण-स्पर्श नहीं किया। इसके बाद वे उठकर खड़े हुए और मृदु कण्ठ से उपस्थित लोगों से बोले – "जाओ, माँ को साष्टांग प्रणाम करो, पर चरण-स्पर्श मत करना। वे इतनी कृपामयी, कोमल-प्राणा, स्नेहातुरा हैं कि किसी के उनके चरण-स्पर्श करने पर वे तत्क्षण उसकी कष्ट-पीड़ा को अपने भीतर समाहित कर लेती हैं, जिसके फलस्वरूप उन्हें दूसरों के लिए चुपचाप कष्ट भोगना पड़ता है। धीरे-धीरे एक-एक कर उन्हें प्रणाम करो, पूरे मन-प्राण से उनसे आशीर्वाद माँगो, पर मुख से कुछ न बोलना। वे सर्वदा एक ऐसे अति चैतन्य लोक में रहती हैं कि प्रत्येक के हृदय की बात जानती हैं।" स्वामीजी के निर्देशानुसार हम सबने क्रमश: जाकर माँ को साष्टांग

प्रणाम किया। स्वामीजी शान्त भाव से बरामदे के किनारे खड़े रहे। हम लोगों का प्रणाम होने के बाद गोलाप-माँ ने निस्तब्धता को भंग करते हुए बड़े स्नेहपूर्ण स्वर में स्वामीजी को बुलाकर कहा – "माँ जानना चाहती हैं कि दार्जिलिंग में तुम्हारा स्वास्थ्य कैसा था? कुछ सुधार हुआ है क्या?"

स्वामीजी – "हाँ, वहाँ पहले से अच्छा था। महेन्द्र बैनर्जी तथा उनकी सुशिक्षित पत्नी ने मेरा खूब यत्न किया। लगता है कि कुछ ही दिनों में स्वास्थ्य ठीक हो जाएगा।"

गोलाप-माँ – "माँ कह रही हैं कि ठाकुर सदा तुम्हारे साथ हैं। समाज की उन्नति के लिए तुम्हें और भी बहुत-कुछ करना होगा।"

स्वामीजी – "माँ, मैं स्पष्ट देख रहा हूँ, मन-प्राणों से अनुभव कर रहा हूँ कि मैं ठाकुर के हाथों के यंत्र के सिवा और कुछ नहीं हूँ। बीच-बीच में अवाक् होकर सोचता हूँ कि यह सब कार्य भला कैसे सम्भव हो रहा है, कैसे पश्चिम के नर-नारी ठाकुर के उपदेशों से आकृष्ट होकर स्वेच्छया अपना जीवन उत्सर्ग करने आगे आ रहे हैं? माँ, आपका आशीष लेकर मैं अमेरिका गया। उसके बाद जब मैंने व्याख्यान देकर वहाँ के लोगों को मुग्ध किया, उनसे विराट् सम्मान मिला, तब समझा कि माँ के आशीर्वाद से ही यह अलौकिक घटना हुई है। जब भी एकान्त मिला, स्पष्ट अनुभव हुआ कि ठाकुर जिन्हें माँ-काली कहते थे, उन्होंने ही मुझे पथ दिखाया है।"

गोलाप-माँ ने माँ का उत्तर स्वामीजी को बताया – "ठाकुर माँ-काली से पृथक् नहीं हैं। ठाकुर ने ही यह विराट् कार्य तुमसे कराया है। तुम्हीं उनके चुने हुए शिष्य और सन्तान हो। तुम्हारे प्रति उनका असीम प्रेम है, उन्होंने सबको बता ही दिया था कि एक दिन तुम पृथ्वी के आचार्य होगे।"

गम्भीर आवेग से स्वामीजी ने कहा – "माँ, मैं उनके उपदेशों का प्रचार करना चाहता हूँ और इसके लिए जितनी जल्दी हो सके, एक संघ स्थापित करना चाहता हूँ। लेकिन जितनी शीघ्रता से करना चाहता हूँ, उतनी शीघ्रता से कर नहीं पा रहा हूँ, इसलिए मुझे कष्ट हो रहा है।"

अब माँ स्वयं मृदु स्नेहार्द्र कण्ठ से बोलीं – "चिन्ता मत करो। तुम जो कर रहे हो और करोगे, वह सब चिरकाल के लिए होगा। इसी काम के लिए तुम आये हो, लाखों लोग तुम्हें पृथ्वी के आचार्य के रूप में ग्रहण करेंगे। थोड़े ही दिनों में देखोगे, तुम्हारा भाव कार्यरूप में परिणत हो रहा है।"

प्रार्थना के स्वर में स्वामीजी ने कहा – "माँ, आशीर्वाद दीजिए जिससे अपने कार्य की परिकल्पना को मैं शीघ्र ही रूपायित होते देख सकूँ। दो-एक दिन में ही मैं दार्जिलिंग लौट रहा हूँ। खेतड़ी महाराजा के अनुरोध पर मैं कलकत्ता आया था।" ऐसी ही कुछ बातें कहने के बाद स्वामीजी ने पुनः माँ को साष्टांग प्रणाम कर विदा ली।

योगानन्द जी सदा सर्वोच्च श्रद्धा की भाषा में माँ के बारे में बोलते। वे सहज भाव से बताते कि कैसे अति बाल्यकाल से माँ अपने सभी पार्थिव सुख-सविधाओं के प्रति उदासीन रही हैं; और साथ ही उनके शान्त-स्निग्ध स्वभाव, अकलंक चरित्र, शिशुसुलभ सरलता, अनाडम्बर जीवन-यात्रा, सबके प्रति सहानुभूति, स्नेहमय अन्तर, असीम वात्सल्य, गहन आध्यात्मिक उपलब्धियों और अध्यात्म-पथिकों के चित्त को उद्दीप्त तथा ऊर्ध्वोन्मुख करने की उनकी अद्भुत क्षमता के बारे में बताते। इस विषय में अब भी सबको अधिक जानकारी नहीं है, पर नि:सन्देह वे हमारे पुराण तथा इतिहास के विराट् आध्यात्मिक चरित्रों के समान महामहिमामयी हैं।

योगानन्द जी ने मुझे बताया था कि एक बार उन्होंने किस प्रकार भ्रमवश ठाकुर और माँ के पवित्र सम्बन्ध के बारे में सन्देह किया था। उन्होंने सोचा था कि लगता है श्रीरामकृष्ण रात में चुपचाप माँ के कमरे में जाते हैं। दक्षिणेश्वर में माँ उनके कमरे के पास नौबतखाने में रहती थीं। एक दिन रात में श्रीरामकृष्ण को अपने कमरे से निकलकर नौबतखाने की ओर जाते देखकर योगानन्द जी के मन में सन्देह जागा। बड़ी सावधानी के साथ वे उनके पीछे चलने लगे। लेकिन उन्होंने अवाक् होकर देखा कि ठाकुर अपने आप में डूबे नौबतखाने के पास से होकर आगे बढ़ गये। माँ के कमरे की ओर नजर तक न डाली। वे शौच के लिए झाऊतले की ओर जा रहे थे। चाँदनी रात थी। योगानन्द जी ने माँ के कमरे की ओर निगाह डाली, तो देखा – माँ उस मध्यरात्रि में नौबत के बरामदे में गम्भीर ध्यान में मग्न थी। अध्यात्म के आलोक से उज्ज्वल, बाह्य संज्ञाहीन, आत्मनिमग्न माँ का मुखमण्डल – वह एक दिव्य दृश्य था! श्रीरामकृष्ण के समान शुद्धसत्व महापुरुष के साधुत्व पर भी उन्होंने सन्देह किया है, इस बात से योगानन्द का मन ग्लानि से भर उठा। वे स्तब्ध होकर खड़े रहे। तभी श्रीरामकृष्ण की पदचाप सुनायी दी। वे तेज कदमों से उत्तरी बरामदे में अपने बिस्तर की ओर चले। पर उन्होंने अवाक् होकर देखा – ठाकुर ने उन्हें पहले ही पकड़ लिया है। वे सारी बात समझ गये थे। लज्जित शिष्य को सांत्वना तथा उत्साह देते हुए वे दृढ़तापूर्वक बोले – "साधु को दिन में देखना, रात में देखना; तभी विश्वास करना।"

यह घटना बताते समय गम्भीर आवेग से योगानन्द जी का कण्ठ रुद्धप्राय हो गया। अन्त में वे बोले – "ठाकुर और माँ की वह छवि मेरे स्मृति-पटल से कभी नहीं मिट सकती। उसी समय मैंने समझ लिया था, ये दोनो ही ईश्वर-स्वरूप हैं और करोड़ों भक्तों के लिए करुणा के वशीभूत हो देह धारण करके आये हैं। ये हमारे कल्याणार्थ न्यायबोध, पवित्रता, ईश्वरता, स्वार्थहीन सेवा और सत्य का आदर्श स्थापित कर जायेंगे। और दुर्बल, पतित, असहाय, पददलित लोगों के

प्रति अपना प्रेम, मुनष्य जाति के दुर्गति-निवारण हेतु अपना अतुलनीय त्याग छोड़ जायेंगे। ये मनुष्यों के मन से सारे सन्देह तथा हताशा को दूर करने, उनमें विश्वास तथा प्रेम को जगाने, उच्च आध्यात्मिक मूल्यबोध को संचरित करने, और किस तरह धरती पर रहकर सुख-दुख से निर्लिप्त रहा जाता है, किस तरह फलाकांक्षा छोड़कर कर्तव्य किया जाता है – यह दिखाने आये थे। ठाकुर के समान ही माँ भी अति सरल जीवन बिताया करती थीं। उनके उपदेश-निर्देश, उनकी ज्ञानमयी वाणी – सब उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों पर आधारित हैं। वह सब किसी की कही-सुनी या ग्रन्थों से भी ली हुई बातें नहीं हैं। ठाकुर तथा माँ – दोनों ही दिखा गये है कि आधुनिक युग के इस जटिल सभ्यता के बीच भी किस प्रकार शुद्ध-सत्त्व सरल जीवन बिताया जा सकता है।''

माँ सारे गार्हस्थ्य एवं सामाजिक कामों में सक्रिय रहकर भी सर्वदा दिव्य भाव में आविष्ट रहतीं, जीवन के कष्टों तथा कठिनाइयों में अविचिलित रहतीं। मैं जब भी उनका दर्शन करने गया, उन्हें वैसी ही स्नेहमयी, करुणामयी माँ के रूप में पाया। उनके करुणाघन शान्त दोनों नेत्र जगदम्बा के दिव्य ज्योति से उद्भासित थे। उनका सान्निध्य मेरे मन में जिस भाव की सृष्टि करता, उसे शब्दों में बताना असम्भव है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण घटना के बारे में बताना आवश्यक है। कुछ ही दिनों बाद स्वामीजी दार्जिलिंग से पुन: कलकत्ते लौटे। उसके अगले ही दिन १ मई १८९७ ई. को उन्होंने माँ का आशीर्वाद लेकर अपनी कल्पना को रूपायित करने हेतु रामकृष्ण मिशन स्थापित किया। मिशन की साप्ताहिक सभाएँ सामान्यत: हर रविवार की संध्या को बागबाजार के बलराम मन्दिर में सम्पन्न होतीं। इस तरह की कई सभाओं के समय माँ अपनी संगिनी तथा शिष्याओं के साथ उपस्थित रहतीं। स्वामीजी प्राय: ही इन सभाओं का सभापतित्व करते, कई भजन गाते, विशेषकर यदि माँ वहाँ उपस्थित रहतीं।

बलराम-मन्दिर में एक बार स्वामी योगानन्द और गिरीशचन्द्र घोष के बीच एक बड़ी महत्त्वपूर्ण चर्चा हुई थी। १८९७ ई. के जुलाई के मध्य में स्वामी योगानन्द अल्मोड़ा से कलकत्ता लौटे। दो महीने पूर्व वे स्वामी विवेकानन्द के साथ वहाँ गये थे। गिरीश घोष के साथ बातचीत के समय योगानन्द जी ने कहा था – ''स्वामीजी एक स्त्री-मठ स्थापित करना चाहते हैं। वह पूरी तौर से माँ के निर्देशानुसार परिचालित होगा। इस मठ में ठाकुर की सभी शिष्याएँ एक साथ रहेंगी। अन्य महिलाएँ, पाश्चात्य महिलाएँ भी यदि त्याग-वैराग्य-साधना का जीवन बिताना चाहें, तो उसमें रह सकेंगी। वे लोग ठाकुर के शिष्यों का पवित्र संग करके अतीत की विरासत से परिचित होंगी और आदर्श का जीवन्त रूप देखेंगी। जो बाल -विधवाएँ तथा कुंवारी स्त्रियाँ उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति तथा पूरे देश की महिलाओं की उन्नति के लिए अपना जीवन समर्पित करना चाहेंगी, वे भी स्त्री-मठ की सदस्य हो सकेंगी। माँ उनकी जीवन्त आदर्श होंगी। उनके आशीर्वाद से उनका धर्म-जीवन नियंत्रित होगा, उनमें से प्राचीन काल की गार्गी-मैत्रेयी के समान ब्रह्मवादिनियाँ अविर्भूत होंगी, यहाँ तक कि हमारे पुराणों तथा इतिहास में वर्णित प्राचीन वीर नारियों से भी काफी उन्नत होंगी। माँ के अपने जीवन का उज्ज्वल दृष्टान्त, उनकी स्वयं की अनुभूतियों पर आधारित उक्तियाँ, उनका उदात्त प्रेम तथा यत्न मठ के सदस्यों में प्रेरणा संचरित कर उनमें सोयी हुई शक्ति को जगा देगा, उनके सामने नये आदर्श का क्षितिज खोल देगा। वे निर्भय विश्वास के साथ सर्वोच्च मानव-कल्याण के पथ पर अग्रसर होंगी।''

योगानन्द जी ने आगे कहा – ''स्वामीजी गम्भीर आवेग के साथ मुझसे बोले – हमारी माँ विराट् आध्यात्मिक शक्ति की भण्डार हैं, यद्यपि संकट काल में गम्भीर समुद्र के समान शान्त दिखती हैं ! उनका आविर्भाव भारतवर्ष के इतिहास में नवयुग का आगमन सूचित करता है। अपने जीवन में उन्होंने जिस आदर्श को चरितार्थ किया है, वह केवल भारतीय नारियों को ही मुक्ति नहीं देगा, अपितु सम्पूर्ण विश्व की नारियों के मन-प्राण में प्रवेश कर उन्हें प्रभावित करेगा। मातृत्व ही नारीत्व की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति है, विशेषत: भारतवर्ष में तो प्रत्येक नारी का ही यह स्वाभाविक वैशिष्ट्य है और यह छोटी बालिकाओं में भी दीख पड़ता है।''

योगानन्द जी कहते रहे – ''पश्चिम का सामाजिक ढाँचा नारी के भोग्या रूप पर आधारित है। पर मातृत्व ही ईश्वर के प्रेम का यथार्थ प्रकाश है – वह विशाल, महान्, आकाश के समान विस्तृत है। विभिन्न विदेशी जातियों तथा संस्कृतियों के सम्पर्क से आज भारतीय समाज में नाना प्रकार के रीति-रिवाज तथा भाव प्रवेश कर गये हैं। इसके फलस्वरूप हमारे देश में पुरा काल से प्रचलित मातृत्व का यथार्थ आदर्श इस समय व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन से दूर हो गया है।

अपने जीवन तथा अनुभूतियों के द्वारा इस महान् आदर्श को पुर्नजीवित करने ही श्रीरामकृष्ण हमारे बीच आये थे। यहाँ तक कि विभिन्न धर्मों की कठोर साधना के दौरान भी श्रीरामकृष्ण ने कभी ईश्वर के मातृभाव के आदर्श को नहीं छोड़ा। उन्होंने भैरवी ब्राह्मणी को अपने प्रथम पथ-प्रदर्शक तथा गुरु के रूप में स्वीकार किया था। पूर्ण संन्यास काल में भी उन्होंने कभी पत्नी को त्यागा नहीं, बल्कि उन्हें अपनी माता चन्द्रादेवी के समान जगदम्बा की प्रतिमूर्ति के रूप में ग्रहण किया। माँ के भीतर उन्होंने विशुद्ध प्रेम तथा भक्ति का पूर्ण प्रकाश देखा था। माँ उनके लिए जगदम्बा की सजीव प्रतिमा थीं। उनकी यह अनुभूति कोई भावगत या आदर्शायित विभ्रम नहीं था। यह बोध उनके ईश्वरीय अनुभूति के सर्वोच्च

दिव्यानन्द से उद्भूत है। माँ की स्नेह-करुणा किसी जागतिक सम्पर्क से उत्पन्न नहीं, अपितु दिव्य प्रेम के उद्‌गम से स्वत: ही प्रकट हुई है और अवतार का यही वैशिष्ट्य है। उनका जीवन सभी सन्तानों की सेवा तथा कल्याण को समर्पित है, उसमें कोई जागतिक सम्पर्क-जनित कोई निकृष्ट पार्थक्य-बोध नहीं है – और यही सम्पूर्ण मातृत्व का चरम आदर्श है। उनकी कृपा केवल अपने सगे-सम्बन्धियों, भक्तों या गाँव के लोगों पर ही वर्षित नहीं होती, वह तो अशेष, अबाध और असीम है। वह सभी समागत प्रार्थियों के ऊपर बरसती है। सभी जागतिक तथा आध्यात्मिक कार्यों के बीच उनका जीवन मातृस्नेह के बन्धन में बँधा है। माँ के मातृत्व के इस आदर्श के बारे में स्वामीजी हमेशा सर्वोच्च श्रद्धा के साथ बोलते। स्वामीजी की ऐसी धारणा है कि उनका यह आदर्श प्रत्येक देश के नारियों के आत्मोन्नति में सहायक होगा। और माँ का निर्देश एवं उत्साह से परिचालित संन्यासिनियों का मठ इस महान् आदर्श के प्रचार का मूल केन्द्र होगा।''

इस पर गिरीश घोष बोले – "हमारे समाज का नये रूप में गठन तथा नारियों के उन्नति के लिए स्वामीजी के ये विचार सचमुच ही कैसे अभिनव तथा साहसपूर्ण हैं। उनकी इच्छा अवश्य पूरी होगी। उनके प्रस्ताव का समर्थन करने में मुझे कोई दुविधा नहीं है। परन्तु आजकल स्वामीजी के स्वास्थ्य की जो अवस्था है, उसे देखते हुए यह बड़ा ही कठिन कार्य है। नहीं जानता कि इस समय उन्हें इस दुरूह दायित्व को ग्रहण करने की सलाह देना कितना उचित है। निश्चय ही वे हम लोगों को जो भी करने का आदेश देंगे, हम बिना किसी दुविधा के उसे करेंगे। लेकिन उनके बिगड़ते हुए स्वास्थ्य के लिए हम सभी चिन्तित हैं और डॉक्टरों ने तो उन्हें पूर्ण विश्राम लेने का परामर्श दिया है।''

योगानन्द जी ने कहा – "समाज तथा मनुष्य की उन्नति के लिए उन्हें जो भी करना उचित लगेगा, उसमें शारीरिक अस्वस्थता या अन्य कोई बाधा उन्हें निरुत्साहित या निवृत्त नहीं कर सकती। स्वास्थ्य की वर्तमान अस्वस्थता में भी इसके सिवा उनके मस्तिष्क में अन्य कोई चिन्ता नहीं है। अपने स्वास्थ्य के लिए हमें उद्विग्न देखकर वे केवल मन्द-मन्द हँसते हैं। स्त्री-मठ शुरू करने के विषय में उनकी पूरी योजना सुनने के बाद मैंने कहा, 'समाज के बृहत्तर कल्याण के लिए तुम जो कुछ जरूरी समझते हो, वही करो। लेकिन मेरी दुहाई सुनो, माँ को अभी जनसाधारण के समक्ष मत लाओ। ठाकुर क्या कहते थे याद है न, समाज में उनका (ठाकुर) प्रचार शुरू करने पर उनका शरीर नहीं टिकेगा। वही बात माँ पर भी लागू होती है। इसीलिए मैं जिस-तिस को माँ से मिलने और दर्शन के समय उनका चरण स्पर्श करने नहीं देता। मैं चाहता हूँ कि शुद्ध स्वभाव के निष्ठावान भक्त ही उनका दर्शन करें। इसलिए तुमसे अनुरोध करता हूँ कि अभी माँ को परेशान मत करो। पहले तुम ऐसी अन्य पवित्र-चरित्र उच्च आध्यात्मिक भाव-सम्पन्न महिलाओं के द्वारा स्त्री-मठ का काम शुरू कर सकते हो, जो ज्ञान-कर्म के विभिन्न धाराओं में निष्णात हों, जो बिना पुरुषों या साधुओं की सहायता के संघ चलाने में समर्थ हो।' मेरी बात समाप्त होते ही स्वामीजी मुझे हृदय से धन्यवाद देते हुए हँसकर बोले, 'मंत्री, तूने मुझे उपयुक्त सलाह दी है। ठाकुर की सावधान-वाणी की याद दिलाकर ठीक ही किया। मैं माँ को परेशान नहीं करूँगा। अपना उद्देश्य वे स्वयं ही ठीक-ठीक जानती हैं, वे ही उसे पूरा करेंगी। इस विषय में कुछ कहनेवाले हम लोग कौन होते हैं? उनके आशीर्वाद से हम लोग सब कुछ करेंगे। उनके आशीर्वाद की शक्ति मैंने देखी है, अनुभव किया है। उनके आशीर्वाद में अलौकिक शक्ति है।' इसलिए स्त्री-मठ की योजना में सम्मिलित होने के लिए स्वामीजी अब माँ से अनुरोध करके उन्हें परेशान नहीं करेंगे।''

यह सब सुनकर गिरीश बाबू बोले – "योगेन महाराज, तुमने यह बहुत बड़ा काम किया। स्वामीजी के साथ तुम्हारे अल्मोड़ा जाने का कारण अब समझ गया। सुनो योगेन, माँ के आशीर्वाद की अपूर्व अभिव्यक्ति का मैं स्वयं ही एक जीवन्त दृष्टान्त हूँ। एक बार मैं बड़े गम्भीर रूप से बीमार पड़ा, डॉक्टरों ने उम्मीद छोड़ दी थी। असह्य पीड़ा तथा रोग के अन्य कष्टों से मैं छटपटा रहा था। एक रात मैंने एक अद्‌भुत स्वप्न देखा। एक नारीमूर्ति मेरे सामने आकर खड़ी हो गयी, मुख-मण्डल से वात्सल्य झलक रहा था। मुझे आश्वासन देकर बोलीं – 'बेटा, तेरी बीमारी जल्दी ठीक हो जायेगी।' उन्होंने मुझे दवा खिलाया। इसके बाद सपना टूट गया। मैं बड़ी देर तक घोर निद्रा में डूबा रहा। बड़े आश्चर्य की बात है कि अगले दिन सुबह मैं प्राय: स्वस्थ था, मानो रोग-ताप नहीं था, शीघ्र ही पूरी तौर से चंगा हो गया। यह घटना तभी से मेरे लिए रहस्य बनी रही। ऐसी अलौकिकता से तब तक मैं अपरिचित था। उस समय तक मुझे ठाकुर या माँ के दर्शन तथा उनके आशीर्वाद पाने का सौभाग्य नहीं मिला था। बाद में जयरामबाटी जाने पर मैं माँ को देखकर अवाक् रह गया – अरे, इन्हीं को तो स्वप्न में देखा था! इन्होंने ही तो स्वप्न में आकर मुझे स्वस्थ किया था, दिलासा प्रदान की थी! अब और भी समझ रहा हूँ कि माँ की कृपा से ही ठाकुर के पास जाकर उनके चरणों में आश्रय पाने का सौभाग्य मुझे मिला था। उन्हीं के आशीर्वाद से उनकी करुणा पाने का, और तुम सभी लोगों के, विशेषत: स्वामीजी के संगलाभ का सौभाग्य मुझे मिला है। स्वामीजी! अहा, उन्होंने किशोरावस्था से ही गुरु महाराज के लिए सर्वस्व त्याग दिया है।''

❖ (क्रमशः) ❖

जयपुर में स्वामीजी का फोटोग्राफ

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९३ ई. में अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित सर्व-धर्म-महासभा में पहुँचकर अपना ऐतिहासिक व्याख्यान देने के पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने एक अकिंचन परिव्राजक के रूप में उत्तरी-पश्चिमी भारत का व्यापक भ्रमण किया था। इस लेखमाला में प्रस्तुत है – विविध स्रोतों से संकलित तथा कुछ नवीन तथ्यों से संबलित उनके राजस्थान-भ्रमण तथा वहाँ के लोगों से मेल-जोल का रोचक विवरण। – सं.)

(अप्रैल अंक में प्रकाशित) लेख में बताया गया है कि अलवर के एक भक्त ने बड़े आग्रहपूर्वक जयपुर में स्वामीजी का एक **छायाचित्र** खिंचवाया था। पर वह चित्र कौन-सा है, इस विषय में दुर्भाग्यवश कुछ मतभेद या भ्रान्तियाँ प्रचलित हो गयी हैं। यहाँ पर उनकी यथासम्भव युक्तियुक्त मीमांसा करने का प्रयास होगा –

(१) वराहनगर मठ में पगड़ी धारण किये स्वामीजी

स्वामीजी के सुदीर्घ प्रव्रज्या (भ्रमण) के दौरान लिए गये उनके कुल छह फोटोग्राफ ही हमें प्राप्त हैं, जिन्हें वर्तमान तथा अगले पृष्ठ पर प्रदर्शित किया गया है। इनमें से बेलगाम (संख्या-४) तथा त्रिवेन्द्रम (संख्या-५) में लिए गये दो चित्रों का स्थान-काल सर्वमान्य रूप से स्वीकृत हैं और बाकी चार चित्रों के स्थान आदि के विषय में विविध प्रकार के मत प्रचलित हैं। इसका कारण यह है कि प्रारम्भ में ही इन चित्रों का स्थान-काल निर्धारित करके प्रकाशित करने का किसी ने प्रयास नहीं किया। क्रमश: विभिन्न नगरों के फोटोग्राफरों द्वारा उनकी बारम्बार प्रतिलिपियाँ बनाई गयीं। बाद में जब उन चित्रों के पीछे अंकित फोटोग्राफरों के पते से उसके स्थान का निर्धारण करने का प्रयास हुआ, तो जो सबसे पुराना चित्र मिला, वह अपने फोटो-ग्राफर के स्थान से जुड़ गया।

(२) १८९३ मद्रास

लिखा है कि अलवर के भक्तों ने जयपुर में स्वामीजी का एक **फोटो** खिंचवाया था। अब तक निश्चित रूप से यह निर्धारित नहीं हो सका है कि वह फोटो कौन-सा है। लगता है कि जयपुर में एक नहीं, वरन् दो फोटो लिए गये थे। कई विद्वानों तथा स्वामीजी के जीवनीकारों के मतों का विश्लेषण करने के बाद हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अन्त में दिये हुए फोटो-ग्राफ संख्या (५) तथा (६) ही वे चित्र हैं। हमारे इस निष्कर्ष का कारण इस प्रकार है –

अब तक अनेक लोगों की मान्यता थी कि फोटोग्राफ संख्या (२) ही जयपुर में लिया हुआ वह फोटोग्राफ है, जिसमें स्वामीजी दण्ड लिए खड़े हैं और संख्या (३/७) को कहीं हैदराबाद, तो कहीं त्रिवेन्द्रम में लिया हुआ बताया जाता था। परन्तु ध्यान से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि (२) तथा (३) – दोनों चित्र एक ही समय लिये गये हैं। दोनों चित्रों की पृष्ठभूमि या परदा भी एक ही प्रतीत होता है। वस्तुत: फोटो संख्या (२) पहली बार स्वामीजी के जीवनकाल में ही १९०१ ई. में मद्रास के रामकृष्ण मठ के द्वारा उनकी 'Inspired Talks' (देववाणी) नामक पुस्तक के प्रथम संस्करण के मुखपृष्ठ पर इस सूचना

(३) १८९३ मद्रास

के साथ छापा गया था – 'शिकागो की धर्म-महासभा में भाग लेने के लिए प्रस्थान करने के ठीक पहले मद्रास से विदा होते समय लिए गये एक फोटोग्राफ से, जिसमें स्वामीजी संन्यासी के गैरिक वस्त्र तथा मुण्डित मस्तक में दीख पड़ते हैं।' ('Photographs of Swami Vivekananda', Chennai, ed. 2002, p. 32) स्वामीजी के जीवन-काल में ही, जबकि उनके अधिकांश मद्रासी मित्र जीवित थे, यदि इस चित्र को 'अमेरिका जाने के किंचित् काल पूर्व मद्रास में लिया हुआ' बताया गया है, तो फिर जब तक कोई अकाट्य प्रमाण न मिले, इस तथ्य को अस्वीकार करना कठिन है। अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'सचित्र जीवनी' तथा अन्यत्र जिस बैंगलोर के फोटोग्राफर की बात लिखी है, वह उसकी प्रतिलिपि का भी हो सकता है। अत: हम सहज ही स्वीकार कर सकते हैं कि ये दोनों चित्र १८९३ ई. की फरवरी या मार्च में मद्रास में लिए गये।

(४) १८९२ बेलगाम

चित्र संख्या (४), जिसमें स्वामीजी कोट तथा कोल्हापुरी चप्पल पहने हुए हैं। इस चित्र के बारे में निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह बेलगाम में लिया गया था। इसकी एक प्रति स्वामीजी ने मड़गाँव (गोवा) के श्री सुब्राय नायक को दी थी, जिनके मकान में अब भी वह सुरक्षित है, यद्यपि अब केवल उसकी रूपरेखा (आउटलाइन) मात्र ही रह गयी है।

(६) १८९१ जयपुर

चित्र संख्या (५), जिसमें स्वामीजी पगड़ी बाँधे हुए हैं और इसे त्रिवेन्द्रम में प्रिंस मार्तण्ड वर्मा द्वारा निकाला हुआ कहा जाता है। इस विषय में और कोई विस्तृत जानकारी नहीं मिलती, अत: इसे उसी रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

(५) १८९२ त्रिवेन्द्रम

इस प्रकार चार फोटोग्राफों का स्थान तथा काल निर्धारित किया जा सकता है। परन्तु अब बाकी रहे केवल फोटो संख्या (६) तथा (७)। इन दोनों चित्रों में स्वामीजी काफी युवा लगते हैं, दाढ़ी थोड़ी-सी बढ़ी है और वे पगड़ी बाँधे हुए हैं। दोनों एक ही समय के लिए हुए प्रतीत होते हैं, अन्तर केवल इतना ही है कि एक में वे बैठे हुए हैं और दूसरे में खड़े हैं। चित्र (६) को 'सम्भवत: बेलगाम में' शीर्षक के साथ छापा जाने लगा, पर वर्तमान शोधों से प्रतीत होता है कि ये ही अलवर के भक्तों द्वारा जयपुर में निकलवाये गये चित्र हैं। "हाल ही में, (२-३ वर्ष पूर्व) स्वामी चेतनानन्द जी को 'उद्बोधन' कार्यालय के अभिलेखागार में शोध करते समय उन्हें एक पुराना सन्दर्भ मिला, जो सम्भवत: इसी चित्र के विषय में है। वहाँ लिखा है – 'बैठी हुई मुद्रा में स्वामीजी : अलवर के बाद जयपुर में अप्रैल १८९१ ई. के के प्रारम्भ में'; परन्तु इस विवरण के साथ वहाँ कोई चित्र नहीं था।" ('Photographs of Swami Vivekananda', Chennai, ed. 2002, p. 42) चूँकि स्वामीजी के परिव्राजक-जीवन के सभी चित्रों में एकमात्र यही चित्र

(७) १८९१ जयपुर

भूमि पर 'बैठी हुई मुद्रा' में है, अत: इसे जयपुर में लिया हुआ माना जा सकता है। फिर १९९३ में अमेरिका से प्रकाशित चेतनानन्द जी की पुस्तक 'Vivekananda · East Meats West' (A Pictorial Biography), p. 36-37 में चित्र ६ तथा ७ को '(सम्भवत:) जयपुर १८९१' में लिया हुआ बताया गया है। और हमें उनका यह मत बिल्कुल समीचीन प्रतीत होता है।

द्वितीयत:, काशीपुर, वराहनगर तथा परिव्राजक जीवन के इन दो चित्रों में से प्रत्येक में स्वामीजी के चेहरे पर थोड़ी-बहुत दाढ़ी दीख पड़ती है, परन्तु उसके बाद के परिव्राजक जीवन के बाकी चार चित्रों में तथा परवर्ती काल के सभी चित्रों में से किसी में भी स्वामीजी की दाढ़ी दृष्टिगोचर नहीं होती। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि अलवर-जयपुर पहुँचने तथा उसके कुछ काल बाद तक स्वामीजी नियमित रूप से दाढ़ी नहीं बनवाते थे, सम्भवत: माउण्ट आबू में राजा अजीतसिंह के सम्पर्क में आने और उनके साथ सुदीर्घ काल तक निवास करते समय ही वे नियमित रूप से दाढ़ी बनवाने लगे। फिर चित्र ६ तथा ७ में वे कुछ कम आयु के और चित्र ४ तथा ५ अर्थात् बेलगाम तथा त्रिवेन्द्रम के चित्रों की तुलना में क्षीणकाय भी प्रतीत होते हैं।

किन्हीं विद्वानों (यथा पं. बेणी शंकर शर्मा) का मत है कि चूँकि इन चित्रों में स्वामीजी पगड़ी पहने हुए हैं, और पगड़ी पहनना उन्होंने कई महीने बाद खेतड़ी के महाराजा अजीत सिंह से सीखा, अत: यह चित्र उस काल का नहीं हो सकता। पर यह मत भी हमें समीचीन नहीं प्रतीत होता। क्योंकि वराहनगर के एकमात्र ग्रुप फोटो (संख्या १) में हम देखते हैं कि सभी गुरुभाइयों के बीच एकमात्र स्वामीजी ही पगड़ी बाँधे हुए हैं। अत: पगड़ी बाँधने की प्रवृत्ति उनमें पहले से ही थी और सम्भव है कि अलवर में पौने दो माह निवास के दौरान भी उन्होंने विधिवत् राजस्थानी पद्धति से पगड़ी पहनना सीख लिया हो। फिर स्वामीजी के वराहनगर की पगड़ी (१) और परवर्ती (जयपुर की) पगड़ी (६ तथा ७) में एक तरह का तारतम्य दीखता है। राजा अजीतसिंह के चित्रों में हम देखते हैं कि उनकी पगड़ी बाँधने की पद्धति भिन्न है। वैसे भारत के बहुत-से प्रान्तों में पगड़ी बाँधने की प्रथा है और पगड़ी की विभिन्न पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन अपने आप में एक बड़ा ही रोचक विषय होगा। अस्तु। इस सिद्धान्त के मुख्य प्रतिपादक श्री बेणी शंकर शर्मा कहते हैं, "जब स्वामी विवेकानन्द ने ... पहली बार खेतड़ी को देखा, तब ये महीने गर्मी एवं लू के थे यानी राजस्थान में वहाँ की प्रसिद्ध गर्म हवा का प्राबल्य था। ... जब महाराजा ने उनकी असुविधा को देखा, तब उन्होंने उनको साफा यानी पगड़ी बाँधने की सलाह दी, जिसे वे तथा इलाके के लोग स्वयं को लू से बचाने के लिए बाँधते थे और स्वामीजी ने इस सुझाव को तत्काल स्वीकार कर लिया। महाराजा ने ही वास्तव में उन्हें साफा बाँधना सिखाया था।" (Swami Vivekananda A Forgotten Chapter of His Life, Beni Shanker Sharma, 2nd Ed., 1982, P. 53) शर्माजी की उपरोक्त युक्ति काल्पनिक प्रतीत होती है, क्योंकि उन्हीं की उपरोक्त पुस्तक (पृ. ३१-३८) के अनुसार स्वामीजी ने गर्मी का पूरा काल आबू पहाड़ में बिताया और वर्षा आरम्भ हो जाने के बाद ही ७ अगस्त को राजा के साथ खेतड़ी पहुँचे। अत: अगस्त के महीने में लू या गर्म हवा चलने और उससे परेशान होकर पगड़ी बाँधना सीखने की बात काल्पनिक प्रतीत होती है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वामीजी के परिव्राजक जीवन के दौरान लिए हुए छह फोटोग्राफों में से २ जयपुर में, १ बेलगाम में, १ त्रिवेन्द्रम में तथा २ मद्रास में लिए गये थे। और बैंगलोर, मैसूर या हैदराबाद में सम्भवत: उनका कोई फोटो नहीं लिया गया था।

मद्रास में बारहों महीने गर्मी पड़ती रहती है और समुद्र के तट पर अवस्थिति के कारण पसीना भी आता रहता है, अत: वहाँ निवास के दौरान स्वामीजी शायद पगड़ी नहीं लगाते थे। मद्रास तथा त्रिवेन्द्रम के विवरणों से भी उनके उन अंचलों में दाढ़ीरहित रहने का अनुमान होता है। हरिपद मित्र, के. व्यास राव, के.एस. रामस्वामी शास्त्री आदि के संस्मरणों से संकेत मिलता है कि उन दिनों उनके मुण्डित मस्तक तथा स्वच्छ चेहरे का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है (Reminiscences of Swami Vivekananda, Ed. 1961, P. 25 & 108)। मद्रास के दिनों के संस्मरणों में वी. सुब्रमण्य अय्यर ने उन्हें 'पहलवान-स्वामी' के रूप में याद किया है। (Life of Swami Vivekananda, by His eastern and western disciples, Vol. I, Ed. 1995, P. 369)। और चित्र ६ तथा ७ में उनका शरीर काफी सुगठित प्रतीत होता है।

विश्वपथिक विवेकानन्द (बँगला ग्रन्थ), उद्बोधन कार्यालय, सं. १९९८, पृ. ५९२-९३ के बीच के चित्रों में; और 'A Pilgrimage to Khetri & The Saraswati Vally', डॉ. अरुण कुमार विश्वास, सं. १९८७, पृ. ७० (प्लेट ३) में चित्र (७) को जयपुर में लिया हुआ होने की सम्भावना व्यक्त की गयी है। बँगला के विख्यात साहित्यकार 'शंकर' ने २००३ में प्रकाशित अपनी नवीनतम बँगला पुस्तक 'अचेना अजाना विवेकानन्द' ग्रन्थ के मुखपृष्ठ पर चित्र (६) को दिया है और उसके परिचय में लिखा है – "नवीन मत है कि इसे १८९१ ई. के अप्रैल के शुरू में जयपुर में उतारा गया था।"

❖ (क्रमश:) ❖

बेलूड़ मठ में स्थापित होगा विवेकानन्द मानद विश्वविद्यालय

विवेकानन्द शोध संस्थान को मानद विश्वविद्याल का दर्जा

भारत सरकार ने रामकृष्ण मिशन के तत्त्वावधान में आरम्भ होनेवाले 'विवेकानन्द शैक्षिक एवं शोध संस्थान' को मानद विश्वविद्यालय का दर्जा देने की घोषणा की है। इस सम्बन्ध में ५ फरवरी को मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा अधिसूचना जारी कर दी गयी। राँची स्थित रामकृष्ण मिशन आश्रम द्वारा संचालित 'दिव्यायन' भी कृषि एवं ग्रामीण विकास के विभिन्न पाठ्यक्रमों की शिक्षण एवं शोध व्यवस्था के साथ उक्त मानद विश्वविद्यालय का अंग बन जाएगा। रामकृष्ण मिशन की कोयम्बतूर शाखा भी आदर्श शिक्षा के अपने विभिन्न स्तरीय पाठ्य-क्रमों के शिक्षण तथा शोध केन्द्र के साथ मानद विश्वविद्यालयों की अंगीभूत इकाइयाँ बनेंगे। उपर्युक्त पाठ्यक्रमों के अतिरिक्त इस मानद विश्वविद्यालय की ओर से आपदा प्रबन्धन, बायो-टेक्नोलॉजी, बायो-इंफॉर्मेटिक्स, माइक्रो-बायोलॉजी आदि के शिक्षण एवं शोध की व्यवस्था किए जाने का प्रस्ताव है।

रायपुर में विवेकानन्द जयन्ती समारोह - २००५

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में विवेकानन्द जयन्ति समारोह का आयोजन गुरुवार, ६ जनवरी से लेकर ५ फरवरी तक किया गया। इसके प्रथम चरण में युवकों के व्यक्तित्व-विकास, चारित्रिक एवं नैतिक विकास हेतु विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिताओं का आयोजन आश्रम-प्रांगण में स्थित सत्संग भवन में किया गया। इन प्रतियोगिताओं में अनेकों विद्यालयों, महा-विद्यालयों तथा पं. रविशंकर विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों ने भाग लिया। विद्यार्थियों ने वर्तमान में प्रासंगिक विभिन्न विषयों पर अपने जो अमूल्य विचार प्रदान किये, वे क्रमशः संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत हैं -

६ जनवरी, गुरुवार को सायं ६ बजे 'अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता' का आयोजन हुआ था, जिसका विषय था - **'आधुनिक विश्व को स्वामी विवेकानन्द की देन'**। इस विषय पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुये प्रथम पुरस्कार विजेता हिमांशु जैन ने कहा कि स्वामी विवेकानन्द का जीवन मार्तण्ड सूर्य की तरह है, जिसका आदि और अन्त का पता लगाना असम्भव है। इस सत्र की अध्यक्षता श्री शैलेन्द्र सर्राफ, विभागाध्यक्ष, फार्मेसी विभाग, रायपुर ने की थी।

७ जनवरी, शुक्रवार को अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। श्रीमती पूर्णिमा केलकर ने **'खेल शिक्षा के अनिवार्य अंग'** विषय पर कहा - ''खेल शरीर को सक्रिय बनाता है। खेल से मन एकाग्र होता है और मन की एकाग्रता शिक्षा में अनिवार्य है। स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का वास होता है। खेल से शरीर का विकास होता है तथा विकसित शरीर और मन में ही शिक्षा ग्रहण करने की क्षमता होती है। शासन द्वारा खेल को प्राथमिकता देनी चाहिये।'' इस सत्र की अध्यक्षता प्रो. जीवनलाल भारद्वाज, विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, पं. रविशंकर विश्वविद्यालय ने की थी।

८ जनवरी, शनिवार को अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता आयोजित की गई थी, जिसका विषय था - **'इस सदन की राय में वर्तमान सत्तालोलुप राजनीति ही राष्ट्रीय चरित्र के पतन का कारण है'**। विषय के पक्ष में स्वाभिमत देते हुये प्रथम पुरस्कार विजेता श्री अखिल श्रीवास्तव ने कहा - '' 'यथा राजा तथा प्रजा' - जैसा राजा होता है, वैसी ही वहाँ की प्रजा भी होती है। राजा के चरित्र का प्रजा के जीवन पर प्रभाव पड़ता है। आज तो दस्यु-डाकू राजनीति में आ रहे हैं। ऐसा आज का लोकतन्त्र हो गया है।'' उन्होंने सदन और अध्यक्ष जी से पूछा - ''आज गाँधी, राजेन्द्र प्रसाद और शास्त्री जी जैसे नेता कहाँ हैं? आज अशोक जैसे राजा कहाँ हैं, जिन्होने अपने पुत्र-पुत्रियों को छोड़कर प्रजा की सेवा में लग गये? बुद्ध जैसे राजपुत्र कहाँ हैं जिन्होंने राज्य को त्याग, संन्यास लेकर समाज की सेवा की।'' हैदर अली खान ने कहा - ''राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में समाज और मीडिया का योगदान होता है। अतः इन्हें पवित्र एवं निष्पक्ष होना चाहिये।'' कुमारी कामना ठाकुर ने कहा - ''सत्ता-लोलुपता व्यक्ति को अन्धा बना देती है, जिससे केवल स्वार्थ ही स्वार्थ दीखता है, राष्ट्रहित नहीं। अतः ऐसी राजनीति अवश्य ही राष्ट्रीय चरित्र के पतन का कारण है।'' कुमारी जसविन्दर कौर ने कहा - ''कुशल शासक चरित्रवान होता है, किन्तु वर्तमान सत्ता में इसका अभाव दीखता है।'' शेख साजिद ने कहा - '' जब देश का युवा अपनी संस्कृति को भूल जाता है, तब राष्ट्रीय चरित्र का पतन होता है।'' कुमारी दिव्या सुधीर ने कहा - ''राष्ट्रीय चरित्र व्यक्ति के सर्वांगीण विकास एव नैतिक मूल्यों से होता है, केवल राजनीति से नहीं। यद्यपि राजनीति को आत्ममंथन की जरूरत है। लेकिन उदारवादी, 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की भावना से ओतप्रोत शिक्षा की भी परम आवश्यकता है।'' श्रीमती पूर्णिमा केलकर ने कहा - ''माँ बचपन में ही अपने पुत्र को चरित्रवान बनने

की पहली शिक्षा देती है - **शुद्धः असि, बुद्धः असि, निरंजनः असि** - तुम पवित्र, बुद्ध एवं निष्कलुष हो। दूसरी शिक्षा विद्यालय में शिक्षक देते हैं। राष्ट्रीय चरित्र समुद्रवत् व्यापक है और वर्तमान सत्तालोलुप सत्ता लोटे के जल के समान सकीर्ण है। आज का वातावरण ही राष्ट्रीय चरित्र के पतन के कारण है, जिसमें अशिक्षा और गरीबी प्रमुख हैं।'' अवधेश पटेल ने कहा कि - ''आज नेता का सत्ता से सम्बन्ध केवल भोग और ऐश्वर्य का है, सेवा का नहीं।'' विनीता गोयनका ने सबको मात करते हुये कहा -''मात्र हम ही राष्ट्रीय चरित्र के पतन के कारण हैं, अन्य कुछ भी नहीं।'' विकास साहू ने कहा कि - ''चुनाव के पहले नेतागण बहुत बड़ी-बड़ी घोषणायें करते हैं, पर बाद में साधारण जनता को पूछते तक नहीं है, ऐसे नेता ही राष्ट्रीय चरित्र के पतन के कारण हैं। उन्होंने सदन से अपील किया कि ऐसी राजनीति को उखाड़ फेंके जिसका हमारे देश की जनता से कोई सम्बन्ध नहीं है।'' सत्र की अध्यक्षता प्रो. हर्षवर्धन तिवारी, पूर्व कुलपति भोपाल विश्वविद्यालय एवं वर्तमान अध्यक्ष इलेक्ट्रॉनिक विभाग, रायपुर ने की थी। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा - ''राष्ट्रीय चरित्र का सम्बन्ध राष्ट्रीय लक्ष्य से है। आवश्यकतानुसार नेतृत्व जन्म लेता है। क्योंकि आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। राष्ट्रीय चरित्र पर किसी का ध्यान नहीं है, इसलिये इसका ह्रास हो रहा है।''

९ जनवरी, रविवार को - **'इस सदन की राय में धार्मिक असहिष्णुता ही राष्ट्रीय विघटन और अशान्ति का प्रमुख कारण है'** विषय पर अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता का आयोजन किया गया, इसमें लगभग सभी प्रतियोगियों ने एक स्वर में कहा कि स्वार्थी राजनेता ही राष्ट्रीय विघटन के कारण हैं। इस प्रतियोगिता के प्रथम पुरस्कार विजेता पार्थ झा ने विपक्ष में बोलते हुये कहा - ''हमारी स्वार्थ प्रवृत्ति, लोभ आदि और कुत्सित राजनीति ही हमारे राष्ट्रीय विघटन और आशान्ति के कारण हैं।'' द्वितीय पुरस्कार विजेता अनिकेत झा ने विषय के पक्ष में बोलते हुये सदन के समक्ष प्रश्नों की झड़ी लगा दी। उन्होंने पूछा - ''क्या १९४७ में ट्रेनों में भरकर आनेवाली मनुष्यों की लाशें धार्मिक असहिष्णुता की परिचायक नहीं हैं? क्या कश्मीर में जेहाद के नाम पर खून की होली नहीं खेली जा रही है? यहाँ तक कि सिया-सुन्नी में भी लड़ाई हो रही है। क्या राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद और अक्षरधाम की घटना धार्मिक असहिष्णुता नहीं है? इन घटनाओं से यह सिद्ध होता है कि यह एक प्रमुख कारण है और इसका निराकरण आवश्यक है।'' शील्ड विजयित्री कुमारी दीपिका शर्मा ने कहा - ''धार्मिक असहिष्णुता के कारण ही गोधरा जैसे काण्ड हुये। जबकि कोई भी धर्म परस्पर लड़ने की शिक्षा नहीं देता, जैसा कि इकबाल ने कहा है - **'मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना।'** सभी धर्मों को सम्मान न देना और उनकी निन्दा करना ही धार्मिक असहिष्णुता है। स्वामी विवेकानन्द ने हमें धार्मिक उदारता की शिक्षा दी और पश्चिमी देशों में उन्होंने किसी भी धर्म की निन्दा नहीं की। अतः गाते हो तो गाओ वतन के गीत, अन्त में होगी सत्य की जीत।'' मो. हसीब ने कहा कि केवल धार्मिक असहिष्णुता ही राष्ट्रीय विघटन का कारण नहीं है, बल्कि राजनैतिक असहिष्णुता है।'' महेश आहुजा ने पक्ष में अपने विचार प्रकट करते हुये कहा - ''धार्मिक असहिष्णुता के कारण ही हिन्दुस्तान का बँटवारा हुआ। आतकवादी जेहाद, धर्मान्तरण और धार्मिक मतभेद सब इसी के कारण हैं।'' इस सत्र की अध्यक्षता प्रो. रामकृष्ण गोविन्द भावे ने की। वे अपने अध्यक्षीय भाषण में बोले - ''जो प्रक्रिया, साधना हमें परमात्मा से जोड़ने का कार्य करती है, वही धर्म है। पानी पर तैरना यदि जीवन है, तो पानी के भीतर जाकर मोती प्राप्त करना श्रेष्ठ जीवन है। सघर्षों से जूझकर सफल होना जीवन है। मानव-धर्म का पालन करनेवाला ही सच्चा धार्मिक है।''

१० जनवरी, सोमवार को अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता आयोजित की गई। जिसमें छात्रों ने सोत्साह भाग लिया। सोनित कुमार ने - 'मानव एव प्रकृति के बीच ताल-मेल की आवश्यकता' नामक विषय पर कहा - ''मानव का विकास प्रकृति से होता है। मानव-जीवन में उन्नति की शिक्षा हम प्रकृति से ले सकते हैं। प्राकृतिक संसाधनों का सदुपयोग हम उन्नति के लिये कर सकते हैं। प्रकृति और मानव एक दूसरे के पूरक हैं। '' कुमारी दीपिका शर्मा का विषय 'छत्तीसगढ़ में सूचना तकनीकी का विकास' था। उन्होंने कहा - ''इस युग में यदि देश की उन्नति एव समाज के विकास के लिये कुछ करना है, तो सूचना एवं तकनीकी का विकास आवश्यक है। इसके बिना देश पिछड़े तथा अविकसित रह जाते हैं। इसलिये छत्तीसगढ़ के विकास के लिये भी इसकी आवश्यकता है।'' अनिकेत झा ने **'चरित्र-गठन का आधार - अनुशासन'** विषय अपना मत प्रकट किया -''महात्मा गाँधी के अनुशासित जीवन ने ही उन्हें राष्ट्रपिता बापू बनाया। पढ़ाई के लिये अनुशासन की आवश्यकता है। इसी से चरित्र बनता है। अनुशासन मनुष्य को मनुष्य और सामाजिक प्राणी बनाता है। परिवार के अनुशासित जीवन से ही बच्चे का चरित्र गठित होता है। स्वामी विवेकानन्द की माता-पिता ने उन्हें बचपन से चरित्रवान बनने की शिक्षा दी। चरित्रवान व्यक्ति आदर्शवान होता है।'' नरेन्द्र कश्यप ने **'बाल श्रमिक'** विषय पर बच्चों के प्रति अपनी संवेदना प्रकट करते हुये कहा - ''पं. जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि बच्चे ही देश के कर्णधार हैं। बच्चे देश के भावी नैतिक नागरिक हैं। ऐसे देश के भविष्य निधियों को शिक्षा नहीं मिलती और उद्योगों में कार्य करना पड़ता है, जिसे उनका विकास नही हो पाता। अतः बाल श्रमिक बनने से बच्चों के बचायें, उन्हें शिक्षा प्रदान कर, उनका सर्वांगीण विकास करें।'' हितेश टकचन्दानी ने **'वैज्ञानिक प्रगति एवं सिमटती मानवीयता'** विषय पर कहा - ''वर्तमान युग यांत्रिकी का है, परन्तु प्राचीन समय में मानवीयता थी। आज यांत्रिकता का दुरुपयोग हो रहा है और मानवीयता की उपेक्षा हो रही है। तकनीकी से एक को काम मिलता है और बाकी बहुत से

लोग बेकार हो जाते हैं। केवल वैज्ञानिक ही नहीं मानवीय गुणों पर भी ध्यान देना होगा।'' वाजीद शेख का विषय था - '**पाश्चात्य संस्कृति का आक्रमण**'। उन्होने कहा कि - ''भारतीय सस्कृति उदार एव विशाल है। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से हिंसा एवं स्वार्थ में वृद्धि हुई है। हमें पुनः शान्ति-सद्भाव हेतु भारत की गौरवमयी संस्कृति को ओर झाँकना होगा और उसे विकसित करना होगा।'' कुमारी क्षिप्रा 'रायपुर में राजधानी बनना - लाभ या हानि' नामक विषय पर कहता हैं - ''हमारे पूर्वजों ने जन-समस्याओं के निवारण हेतु सत्ता के विकेन्द्रीकरण की नीति अपनायी। राजधानी के कारण ही युवकों को रोजगार, सड़क-निर्माण, उद्योग-धन्धे, कारखाने, उच्च शिक्षा के अवसर, जन-समस्याओं का निवारण तथा राजनैतिक उत्तरदायित्व सुगम हो गया है। इससे इंटरनेट का विकास एवं वैश्विक ज्ञान भी बढ़ा है। लेकिन अपराधों में वृद्धि भी हुई है।'' इस सत्र की अध्यक्षता इन्दिरा गाँधी कृषि विश्वविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री रामशरण गौराहा जी ने की थी। उन्होंने अपने अध्यक्षीय व्याख्यान में कहा - ''विज्ञान और धर्म के बीच समन्वय होना चाहिये। टेलीविजन के लाभ के साथ-साथ उसके अश्लील दृश्य से हमारे बच्चे बिगड़ रहे हैं। इससे सावधान रहना होगा। अनुशासन से ही चरित्र बनता है। हिम्मत कर प्रतियोगिता में भाग लेने वाले सभी प्रतिभागी बधाई के पात्र हैं तथा सभी अभिभावक धन्यवाद के योग्य हैं, जिन्होने अपने बच्चों को भेजा एवं यहाँ आकर उनका उत्साह-वर्धन किया।''

११ जनवरी, मंगलवार को अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता का आयोजन था। जिसका विषय था - '**स्वामी विवेकानन्द का मानवतावाद**'। इस विषय पर बोलते हुये पायल सिंह ने कहा - ''स्वामीजी ने 'मूर्ख देवो भव, चाण्डाल देवो भव' का मन्त्र दिया। उन्होंने कहा कि अपने तन-मन-धन को जगतहिताय अर्पण करो। पार्थ झा ने 'बढ़ो साहसी जग विजयी हो' का आह्वान करते हुये कहा कि - ''शिव ज्ञान से जीव सेवा और नर-सेवा ही सच्ची नारायण-सेवा है का उद्घोष किया। उन्होंने **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च** का आदर्श स्थापित किया।'' वाजिद शेख ने कहा - ''स्वामीजी में प्रेम, भाईचारा, मानवीयता, धार्मिक सहिष्णुता, मानवीय संवेदना, मातृत्व, पवित्रता, कोमलता, सरलता आदि समाहित हैं। स्वामीजी के मानवतावाद गाँधीजी के अहिंसा में, टैगोर की कविता में, कलाम के विज्ञान में दृष्टिगोचर होता है।'' नरेन्द्र कश्यप ने कहा - ''स्वामीजी का मानवतावाद सार्वभौमिक है, जो मानव में अन्तर्निहित देवत्व को प्रकट करता है। उनके हृदय में मानव-प्रेम की गहरी संवेदना थी।'' कुमारी निवेदिता पाण्डेय ने कबीर के उद्धरण से अपना व्याख्यान आरम्भ करते हुये कहा - ''**कबिरा यह घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं**'। स्वामीजी के जीवन में प्रेम, त्याग, सद्भावना और मानवीयता विद्यामान थी।'' कुमारी पूजा सिंह ने कहा - ''मानव के दुःख की कल्पना करके ही स्वामीजी की आँखों में आँसू आ जाते थे। इसीलिये उन्होंने कहा कि पहले दुर्बल, गरीब और दरिद्रों की सेवा-पूजा करो।'' कुमारी श्वेता चन्द्राकर ने स्वामीजी की प्रसिद्ध उक्ति का उद्धरण दिया - 'मनुष्य का अध्ययन करो मनुष्य ही जीवन्त काव्य है।' कुमारी श्रद्धा दूबे ने कहा - ''स्वामीजी को भारत की गरीबी और पिछड़ेपन का दुःख सदा बना रहा। जन-साधारण की गरीबी सदैव स्वामीजी को व्यथित करती रही। स्वामीजी युवकों को गाँव-गाँव जाकर शिक्षा, स्वास्थ्य आदि द्वारा लोगों की सेवा करने की प्रेरणा प्रदान की तथा इसके लिये विभिन्न केन्द्रों की स्थापना की।'' प्रवेश लोढ़ा ने कहा - ''स्वामीजी ने गाँव-गाँव नगर-नगर में पैदल घूमकर भारत के नागरिकों की स्थिति को जाना और उनकी अवनति के कारण गरीबी, अशिक्षा आदि का अनुभव किया तथा उनसे दुःखित होकर उनकी सेवा का प्रचार किया।'' विक्रमादित्य राव ने कहा - ''मानवीय प्रेम का सृजन ही मानवतावाद है। धन का उपयोग दरिद्र-नारायण की सेवा में करना चाहिये।'' तेजेन्द्र सिंह ने कहा - ''जब तक भारत में गीता है, तब तक स्वामीजी का मानवतावाद अक्षुण्ण रहेगा।'' इस सत्र की अध्यक्षा श्रीमती सत्यभामा आडिल थीं, जो शासकीय दूधाधारी बजरंगबली महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रायपुर की हिन्दी विभागाध्यक्ष थीं। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा - ''युवाओं को अधिक-से-अधिक सत्साहित्य पढ़ने एवं चरित्र के निर्माण की आवश्यकता है, क्योंकि इन्हीं से देश का निर्माण होता है। यदि हमारे नन्हें-नन्हें वक्ता निरन्तर स्वामीजी का साहित्य पढ़ते रहेंगे तो उनका अवश्य ही चरित्र-निर्माण होगा। स्वामीजी के विचार अग्नि के कण हैं, यदि हम इनका अध्ययन करते रहें, तो सर्वदा हमारे मन में सेवा की अग्नि जलती रहेगी, प्रेरणा मिलती रहेगी।''

१२ जनवरी, बुधवार को प्रातः ९.३० बजे से पण्डित रविशंकर विश्वविद्यालय के राष्ट्रीय सेवा योजना और रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संयुक्त तत्त्वावधान में विश्वविद्यालय परिसर में राष्ट्रीय युवा दिवस मनाया गया। इसमें स्वामीजी की मूर्ति को फूलों से सुसज्जित कर उन्हें माल्यार्पण किया गया। संन्यासी-ब्रह्मचारियों एवं आश्रम के छात्रावासीय छात्रों ने शान्ति मन्त्र का पाठ किया। तत्पश्चात् युवक-युवतियों ने स्वामीजी पर अपने ओजस्वी व्याख्यान दिये। उसके बाद रा.से.यो. के समन्वयक, विश्वविद्यालय के कुलपति श्री बी.पी. चन्द्राकर, कुलाधिसचिव डॉ ओमप्रकाश वर्मा और आश्रम के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी के प्रेरक व्याख्यान हुए।

इसी दिन शाम को ६ बजे अन्तर्माध्यमिक-शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता आयोजित थी, जिसका विषय था - '**यदि आज स्वामी विवेकानन्द होते**'। इस विषय पर अपना विचार प्रकट करते हुये कुमारी निहारिका अग्रवाल ने कहा - '' यदि आज स्वामीजी होते तो भारतियों को हर गाँव में जाकर बताते कि

आलसपूर्ण बैठे रहने से कुछ नहीं होगा। काम करो। स्वामीजी ने हमारे लिये बहुत कुछ किया है। अब हमारी करने की बारी है। उनके अपूर्ण कार्यों को हम पूरा करने का संकल्प लें।''नागेन्द्र सिंह ने कहा - '' यदि आज स्वामीजी होते, तो देश में सत्य और अहिंसा का साम्राज्य होता।'' खूबचन्द यादव ने कहा - ''यदि आज स्वामीजी होते, तो देश में भेद-भाव नहीं होता। मानव कर्मठ होता तथा मनुष्य को मनुष्यत्व का ज्ञान मिलता। '' कुमारी राजवीर वाहुला ने कहा - ''यदि आज स्वामीजी होते तो समस्याग्रस्त भारत की गरीबी, बेरोजगारी, अशिक्षा आदि के उन्मूलन का प्रयास करते। लोगों को शिक्षित कर चरित्रवान बनाते तथा उनमें धार्मिक सद्भावना को प्रोत्साहित करते।'' कुमारी तनया पाण्डेय ने कहा कि ''यदि स्वामीजी होते तो विश्व समुदाय में भारत को उन्नत करते।'' गौरव शुक्ला ने कहा - ''यदि आज स्वामीजी होते तो वैश्वीकरण एवं विदेशी सम्बन्ध मधुर होते। भारत का प्रत्येक नागरिक स्वामी विवेकानन्द की तरह होता और भारत विश्वगुरु के पद पर आसीन होता।'' शशांक गुप्ता ने कहा कि - ''स्वामीजी मानव-धर्म के मसीहा थे। उनके रहने से सारे समाज में शान्ति होती।'' कुमारी पूजा दूबे ने कहा - ''यदि आज स्वामीजी होते, तो विचारों में क्रान्ति लाने का प्रयास करते। जो कर्मनिष्ठ हैं, विचारशील हैं एवं शक्तिशाली हैं, उनमें स्वामीजी आज भी मूर्तरूप में हैं। सेवा, ईमानदारी, सत्यनिष्ठा एवं मानवीयता से देश की सेवा होती।'' इस सत्र के अध्यक्ष प्रो. एम. ए. खान, विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, पंण्डित रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर थे। उन्होने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा - ''यदि आज स्वामीजी होते, ऐसा न कहकर यह कहना उचित होगा कि स्वामीजी हमारे बीच में हैं। स्वामीजी के विचारों को केवल सुनें, समझें ही नहीं, अपितु उनके ऊपर चलने की कोशिश भी करें। स्वामीजी के विचारों से, कार्यों से अनुप्राणित होकर देश को आत्मनिर्भरता की ओर ले जायँ। स्वामीजी के विचारों को हम अपने कार्यों से, अपने आचरण से सार्थक करें। स्वामीजी १०० वर्ष पहले जो संदेश दिये थे, वे अभी भी हमें दे रहे हैं। हम उनके संदेशों से अनुप्राणित होकर कार्य करें, यह हमारा दायित्व है।''

१३ जनवरी, गुरुवार को अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता का आयोजन किया गया था, जिसका विषय था - **'इस सदन की राय में वर्तमान शिक्षा-प्रणाली जीवन को सफल और सुखी बनाने में समर्थ नहीं है'**। इस विषय के पक्ष पर अपना विचार देते हुये कुमारी अंकिता अग्रवाल ने कहा - ''शिक्षा वह है,जो मनुष्य में मानवीय गुण - प्रेम, विश्वास, सत्य, अहिंसा आदि जाग्रत करे। वर्तमान शिक्षा प्रणाली लार्ड मैकाले द्वारा परतन्त्र भारत में बनायी हुई है, जो सैद्धान्तिक एवं प्रतियोगितात्मक हो गई है, व्यावहारिक नहीं है। यह सर्वथा अनुचित है।'' विषय के विपक्ष में बोलते हुये आरंजा दूबे ने कहा - ''वर्तमान शिक्षा-प्रणाली श्रेष्ठ शिक्षाविदों द्वारा पोषित है, जो चरणबद्ध है, जिसमें प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्चतर शिक्षा प्रदान की जाती है, जो उचित मानसिक विकास करता है।'' अलक्षेन्द्र मोंगरे ने विषय के विपक्ष में कहा - ''वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के प्रतियोगितात्मक एवं व्यावसायिकता से आत्मविश्वास का ह्रास हुआ दीखता है, लेकिन यह शिक्षा-प्रणाली तकनीकी तथा यांत्रिकता से व्याप्त है। इसकी वैज्ञानिक प्रगति के साक्ष्य हैं राष्ट्रपति अब्दुल कलाम और कल्पना चावला।'' कुमारी खुशबू शर्मा ने पक्ष में बोलते हुये मानवीय विकास के अभाव का दोष वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को न देकर वर्तमान परिस्थितियों को ही दिया। नकुल पन्त ने विषय के पक्ष में बोलते हुये कहा - ''क्या डिग्रियाँ प्राप्त करना और रोजगार प्राप्त करना ही आज की शिक्षा-प्रणाली का लक्ष्य है? इस प्रकार की शिक्षा से तो एक शिक्षित छात्र भी खुद अशिक्षित हो जायेगा। आज की शिक्षा-प्रणाली बस्तों के बोझ से लदी है। यह डिग्रियों तथा किताबी ज्ञान तक सीमित है और छात्र उद्देश्यहीन हैं।'' कुमारी ऋचा नामदेव ने विपक्ष में कहा - ''आज शिक्षा प्रणाली दोषी नहीं, अपितु संचालक दोषी हैं, जो उचित शिक्षा देने में असमर्थ हैं।'' कुमारी अवनी मुदलियार ने विपक्ष में कहा - ''शिक्षा के दो पहलू हैं - नकारात्मक और सकारात्मक। हम सकारात्मक शिक्षा को अपनाकर जीवन सफल बना सकते हैं। वर्तमान शिक्षा सर्वसुलभ एवं निःशुल्क है, इसमें छात्रों के लिये मध्याह्न भोजन की व्यवस्था एवं नारी शिक्षा की व्यवस्था है,जो उचित एवं प्रशंसनीय है। वर्तमान शिक्षा से ही रोजगार एवं व्यवसाय अधिक उन्नत हुये हैं, ।'' विषय के पक्ष में बोलते हुये कुमारी दीक्षा रावत ने कहा - ''वर्तमान शिक्षा सेवा, सहयोग, सहिष्णुता, परोपकार, ईमानदारी एवं मानवीयता पर आधारित होनी चाहिये। यह शिक्षा आत्म-साक्षात्कार का अवसर नहीं देती।'' प्रतीक्षा लोढ़ा ने कहा - ''वर्तमान शिक्षा तकनीकि एवं व्यावसायिक है, जो व्यक्ति को रोजगार दिलाकर जीवन को गढ़ती है और उन्हें साहित्यकार, इंजीनियर और वैज्ञानिक आदि बनाती है।'' कुमारी कामिनी बावनकर ने कहा - ''शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य.का शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक, सामाजिक, आध्यात्मिक और सर्वांगीण विकास होना चाहिये, जो वर्तमान शिक्षा में नहीं है।'' कुमारी पूजा दूबे ने विषय के पक्ष में कहा - ''शिक्षा संस्कार है, जो सिखाती है कि कैसे रहना है, कैसे व्यवहार करना है एवं कैसे जीवन गढ़ना है।वर्तमान शिक्षा पैसों पर आधारित है न कि मानवीयता के विकास में। वर्तमान शिक्षा व्यावसायिक है। शिक्षा पवित्र एवं निष्कलंक होती है, जो विनय की शिक्षा देती है - **विद्या ददाति विनयम्**। विद्यार्थी तो कच्ची मिट्टी की भाँति है, जैसा साँचा मिलता है, वही रूप ले लेता है। अतः आवश्यकता है उचित शिक्षा रूपी साँचे की।'' इस सत्र की अध्यक्षता श्री आर. प्रसाद, प्रो. अर्थशास्त्र विभाग, पण्डित रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर ने की। उन्होंने अध्यक्षीय भाषण में कहा - ''जब तक शिक्षा में जीवन मूल्यों का समावेश नहीं किया गया हो, तब तक वह शिक्षा

वास्तविक शिक्षा नहीं। देश को चूसने वाली शिक्षा किस काम की?'' उन्होंने जीवन-मूल्य पर आधारित कबीर और कालीदास के जीवन के दो प्रेरक प्रसंग उद्धृत किये ।

१४ जनवरी, शुक्रवार को अन्तर्प्राथमिक पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता आयोजित की गयी थी। जिसमें स्वामी विवेकानन्द साहित्य के किसी भी अंश का पाठ करके बच्चों को सुनाना था। प्रथम पुरस्कार प्राप्तकत्री कुमारी पल्लवी दूबे ने स्वामीजी के प्रसिद्ध उक्ति की आवृत्ति की - '' मैं यह कर सकता हूँ,यह नहीं कर सकता - यह सब भी अन्धविश्वास है। मैं सब कुछ कर सकता हूँ। वेदान्त सबसे पहल मनुष्य को अपने ऊपर विश्वास करने को कहता है। जैसे संसार का कोई-कोई धर्म उस व्यक्ति को नास्तिक कहता है, जो अपने से बाहर सगुण ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, वैसे ही वेदान्त का भी कहना है कि जो व्यक्ति स्वयं पर विश्वास नहीं करता, वही नास्तिक है।'' द्वितीय पुरस्कार विजेता सुशान्त झा ने स्वामीजी द्वारा आलासिंगा पेरुमल को लिखित पत्र का कुछ अंश सुनाया, जिसमें स्वामीजी कहते हैं कि मेरा विश्वास गरीब लोगें पर ही है। द्वितीय पुरकार विजेता महेन्द्र कुमार ने कहा - ''भगवान को खोजने तुम कहाँ जा रहे हो? भगवान को इन दीन-हीनों में क्यों नहीं देखते?'' शिवाश तिवारी ने कहा - ''यह देश गिरा अवश्य है, किन्तु फिर से उठेगा और यह ऐसा उठेगा कि दुनिया देखकर दग रह जायेगी।'' मोहम्मद सैफ खान ने कहा - ''मन्दिर में पूजा और मस्जिद में नमाज पढ़ना ही धर्म नहीं है। भूखों को भोजन और नंगों को वस्त्र देना धर्म है।'' कुमारी वैष्णवी काले ने स्वामीजी का वह महत्त्वपूर्ण उद्गार प्रस्तुत किया - स्वामीजी बहुत दिनों के बाद भारत आ रहे हैं, अब आपको अपना देश कैसे लग रहा है? स्वामीजी कहते हैं - भारत का एक-एक धूलि-कण मेरे लिये पवित्र है। कुमारी तनया शर्मा ने स्वामीजी को समर्पित इस विख्यात् श्लोक से शुभारम्भ किया - **नमः श्री यतिराजाय विवेकानन्द सूरये। सच्चितसुखस्वरूपाय स्वामिने ताप-हारिणे**। विश्वास, विश्वास, विश्वास, अपने आप पर विश्वास करो। संजय चन्द्रवंशी ने बड़े ही जोशिले शब्दों में स्वामीजी के अग्निमत्र का पाठ किया तथा शब्दार्थ दूबे ने शिक्षा पर स्वामीजी के विचार सुनाये। कुमारी श्रुति ओझा ने स्वामीजी की संक्षिप्त जीवनी तथा नवनीत जोशी ने स्वामीजी के शिकागो व्याख्या के प्रथमाश की आवृत्ति की। इस सत्र की अध्यक्षता श्री आर. पी. सुखीजा, विभागाध्यक्ष मेकैनिकल विभाग, इंजीनियरींग कालेज, रायपुर ने की थी। उन्होंने स्वामीजी के जीवन की कुछ प्रेरक घटनाओं का उल्लेख कर छात्रों और सदन को प्रेरित किया।

१७ जनवरी, २००५, सोमवार को स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने समस्त आगत छात्र-छात्राओं, शिक्षकों, अभिभावकों एव अन्य अतिथियों को आश्रम की गतिविधियों से अवगत कराया। आज पुनः प्रतियोगिताओं में प्रथम रहे सभी छात्रों ने अपने व्याख्यान की जोशिले शब्दों में पुनरावृत्ति की तथा सभी विजेता प्रतिभागियों को रामकृष्ण मिशन, नारायणपुर के सचिव श्रीमत् स्वामी निखिलात्मानन्द जी महाराज ने अपने कर-कमलों से पुरस्कार प्रदान किया। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होने कहा कि स्वामी विवेकानन्द को श्रीरामकृष्ण ने मानव और मानवता की सेवा के लिये प्रेरित किया। मानव पर दया नहीं बल्कि शिव भाव से जीव की सेवा का उपदेश दिया। ❑❑❑

(विवरण प्रस्तुति - वनसिंह नेताम और सुखदेव सलाम,
विवेकानन्द विद्यार्थी भवन, रायपुर)

(पृष्ठ ३०२ का शेषांश)

१९६५ ई. में वे रामकृष्ण मठ के एक ट्रस्टी और रामकृष्ण मिशन की संचालन-समिति के एक सदस्य निर्वाचित हुए। १९७९ में वे इन दोनों संस्थाओं के सह-सचिव नियुक्त हुए। इसके बाद भी वे मार्च १९८५ तक सेवा-प्रतिष्ठान के सचिव का उत्तरदायित्व निभाते रहे। इसके बाद वे पूर्णकालिक सह-सचिव के रूप में बेलूड़ मठ स्थित मुख्यालय में चले आये। १९८९ मे वे मठ तथा मिशन के महासचिव बने और तीन वर्षों तक उसी पद पर रहने के बाद १९९२ में संघ के उपाध्यक्ष बने। इसके साथ ही उसी समय से वे काकुड़गाछी, कोलकाता के रामकृष्ण मठ (योगोद्यान) के अध्यक्ष भी थे।

मठ तथा मिशन के उपाध्यक्ष के रूप में स्वामी गहनानन्द जी ने भारत के विभिन्न अंचलों की यात्रा की और संघ के अनेक केन्द्रों तथा बहुत-से असंलग्न केन्द्रों में पदार्पण किया। १९९३ ई. में शिकागो में विश्वधर्म-महासभा कौसिल द्वारा स्वामी विवेकानन्द के धर्म-महासभा में भाग लेने की ऐतिहासिक घटना की शताब्दी मनाने हेतु आयोजित समारोह (जिसमें दुनिया के विभिन्न अंचलों के ६५०० लोगों ने भाग लिया था) में रामकृष्ण संघ का प्रतिनिधित्व किया। उस दौरान उन्होंने संघ के अमेरिका तथा कनाडा में स्थित केन्द्रों का अवलोकन भी किया। उन्होंने विभिन्न अवसरों पर इंग्लैंड, फ्रांस, स्विटजरलैंड, हालैंड, रूस, आस्ट्रेलिया, जापान, म्यांमार, श्रीलंका, बंगला देश, सिंगापुर, मलेशिया तथा मारीशस के विभिन्न स्थानों का भी दौरा किया है।

इन स्थानों पर उन्होंने श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदादेवी तथा स्वामी विवेकानन्द के सन्देश का प्रचार किया और हजारों साधकों को मंत्रदीक्षा प्रदान की। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत कठिनाइयों तथा असुविधाओं पर ध्यान न देते हुए देश के सभी अंचलों से, यहाँ तक कि अति दूर स्थित गाँवों से भी आध्यात्मिक निर्देश के लिए प्राप्त हुए अनुरोधों को स्वीकार किया है। ❑